ISSN: 0971-8478
1945 से प्रकाशित
अक्तूबर 2015
₹ 10

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक



- हिंदी भाषा के प्रबल पक्षधर
- लंदन में गांधी की आदमकद मूर्ति

- रामविलास शर्मा की कविताएं...
- स्त्री-विमर्श : नया प्रश्न नई चुनौतियां
- उर्दू शायरी में 'गीता' की शिक्षा
- अमृत कौर से अमृता प्रीतम तक
- फिल्मों में दलित अस्मिता और सवाल

'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी' के ई-संस्करण का लोकार्पण



सूचना और प्रसारण मंत्री श्री अरुण जेटली 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी' के ई-संस्करण का लोकार्पण करते हुए, साथ में सूचना एवं प्रसारण राज्यमंत्री कर्नल राज्यवर्धन सिंह राठौर, सूचना एवं प्रसारण सचिव श्री सुनील अरोड़ा और गुजरात विद्यापीठ की कुलपति सुश्री इला रमेश भट्ट

माननीय सूचना एवं प्रसारण और वित्त, कारपोरेट कार्य मंत्री श्री अरुण जेटली ने 8 सितंबर 2015 को गांधी शांति प्रतिष्ठान में 'द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी'–सीडब्ल्यूएमजी के ई-संस्करण का लोकार्पण किया। इस अवसर पर सूचना एवं प्रसारण राज्यमंत्री कर्नल राज्यवर्धन सिंह राठौर, सूचना एवं प्रसार सचिव श्री सुनील अरोड़ा और विशेषज्ञ समिति के सदस्य उपस्थित थे। यह 1884 से 30 जनवरी 1948 के दौरान गांधीजी के वक्तव्यों और लेखों, पत्रों, टिप्पणियों का स्मारक दस्तावेज़ है। श्री जेटली ने गांधी हेरिटेज पोर्टल पर भी इस संस्करण के अपलिंक का शुभारंभ किया। दुनिया-भर के लोगों तक महात्मा गांधी के संग्रहीत कार्यों को आसानी से और निःशुल्क पहुंचाने के लिए ई-सीडब्ल्यूएमजी पोर्टल पर पीडीएफ रूप में उपलब्ध है। इस अवसर पर श्री जेटली ने कहा कि संपूर्ण गांधी वाङ्मय के हिंदी संस्करण का भी जल्दी ही डिजिटीकरण किया जाएगा। इस परियोजना की विरासत और महत्व को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि ई-संस्करण को गांधीजी द्वारा स्थापित और विकसित संस्थाओं के सहयोग से तैयार किया गया है। श्री जेटली ने कहा कि महात्मा गांधी के संग्रहीत कार्यों का डिजिटल संस्करण, अमूल्य राष्ट्रीय विरासत के संरक्षण और मानवता के प्रसार में सहायक होगा।

ई-संस्करण के ज़रिए गांधीजी के कार्यों का संग्रह ई-प्लेटफॉर्म पर उनके अनुयायियों के लिए प्रेरणादायक है। इससे पूर्व सूचना एवं प्रसारण सचिव श्री सुनील अरोड़ा ने कहा कि गांधीजी की अमूल्य विरासत को संरक्षित करने और आगामी पीढ़ी के लिए उपलब्ध कराने के लिए प्रकाशन विभाग ने 2011 में सीडब्ल्यूएमजी के 100 खंडों का ई-संस्करण तैयार करने का कार्य शुरू किया। उन्होंने बताया कि इस महत्वपूर्ण कार्य की प्रामाणिकता को बनाए रखने के लिए इसके प्रतिलिपि आधारित संस्करण को इलैक्ट्रोनिक रूप में संरक्षित करने का फैसला लिया गया। यह भी निर्णय किया गया कि इसकी मास्टर कॉपी को पीडीएफ रूप में तैयार किया जाए ताकि लोग गांधीजी के जीवन और विचारों का लाभ सरल और आसान तरीके से उठा सकें।

गुजरात विद्यापीठ की कुलपति सुश्री इला रमेश भट्ट ने भी प्रकाशन विभाग के साथ मिलकर संपूर्ण गांधी वाङ्मय का ई-संस्करण हिंदी तथा अन्य भाषाओं में भी तैयार करने के इरादे को दोहराया। प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित क्लेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी (सीडब्ल्यूएमजी), 1884 से 1948 में उनकी मृत्युपर्यंत गांधीजी द्वारा बोले और लिखे गए शब्दों का स्मारक दस्तावेज़ है। विश्व में कई स्थानों पर उनके द्वारा लिखे गए कार्य को इस शृंखला में संग्रहीत किया गया है। महात्मा गांधी के संग्रहीत कार्यों को तैयार करने में करीब 38 वर्ष (1956-1994) का समय लगा। यह 55,000 से भी अधिक पृष्ठों की 100 खंडों की शृंखला है जो आपस में जुड़ी हुई है। सीडब्ल्यूएमजी के मौलिक संस्करण के खंड 1956 से 1994 के दौरान प्रकाशित किए गए थे।

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 71; अंक : 6; पूर्णांक : 846
अक्तूबर 2015; आश्विन-कार्तिक 1937

वरिष्ठ संपादक
राकेशरेणु

संपादक
फरहत परवीन

आवरण : **राजेश कुमार**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ई-मेल : ajkalhindi@gmail.com

website : www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक आईडी : www.facebook.com/publicationsdivision

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 100 रुपये; दो वर्ष: 180 रुपये;
तीन वर्ष : 250 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 530 रुपये
शेष विश्व : 730 रुपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :

वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
कमरा नं. 48-53, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लैक्स,
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003
फोन नं. 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

पृष्ठ 1-60

लेख

7. हिंदी भाषा के प्रबल पक्षधर — **कुमार कृष्णन**

10. बा के बिना बापू का अस्तित्व नहीं (तारा गांधी भट्टाचार्य से बातचीत) — **नाज़ ख़ान**

12. लंदन में गांधी की आदमक़द मूर्ति — **महेन्द्र राजा जैन**

14. रामविलास शर्मा की कविताएं ... — **प्रकाश मनु**

20. बदलने का काम हर समय में राजनीति ही करती है (वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह से बातचीत) — **मो. ज़ाहिदुल दीवान**

23. अमृत कौर से अमृता प्रीतम तक — **बलवंत गार्गी**

30. चूड़ियों का नगर — **प्रताप अनम**

33. स्त्री-विमर्श : नया प्रश्न नई चुनौतियां — **वंदना कुमार**
छनेश्वरी साहू

37. लोक संगीत और नृत्य का — **अजयशंकर मिश्र**

39. मोम बन जाएगा हर पत्थर दिल — **मधुकर खराटे**

43. फिल्मों में दलित अस्मिता और सवाल — **मोहनदास नैमिशराय**

48. उर्दू शायरी में 'गीता' की शिक्षा — **बानो सरताज**

50. उत्तरी ध्रुव के अनुभवों में सराबोर — **नीलम कुलश्रेष्ठ**

52. साहिर लुधियानवी के फ़िल्मी गीतों में सांप्रदायिक चेतना — **रतनलाल**

54. मैं यहां तू वहां, ज़िंदगी है कहां! — **प्रदीप सरदाना**

कहानी

27. आख़िरी सांस — **कुसुम भट्ट**

41. बंटवारा — **आनंद लहर**

कविताएं

29. तीन कविताएं — **बाल कृष्ण शुक्ल**

36. कविता — **रमेश प्रजापति**

51. कविता — **बद्री प्रसाद वर्मा अनजान**

57. **समीक्षा**

हमारे विक्रय केंद्र : **नई दिल्ली:** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कांप्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260; **लखनऊ:** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455; **कोलकाता:** 8, एम्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 33-22486030; **पटना :** विहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 0612-2683407; **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुंबई; दूरभाष : 9522-27570686; **बंगलौर :** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244; **हैदराबाद :** ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कांप्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष :040- 24605383; **चेन्नई :** राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 044-24917673; **तिरुअनंतपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश...

अक्तूबर का महीना हम सबके लिए विशेष महत्व रखता है क्योंकि इसी माह 2 अक्तूबर को हम राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जन्मदिवस मनाते हैं जिन्होंने राष्ट्रीय एकता, अखंडता और धार्मिक सद्भाव की रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिए। राष्ट्रीय एकता के महान प्रवक्ता गांधीजी मानवता के वास्तविक ऐक्य में विश्वास रखते थे। सत्य में ही ईश्वर के दर्शन करते थे इसलिए जीवन भर उन्होंने सत्य की पूजा-उपासना की। सत्य और अहिंसा के पुजारी गांधी सबका कल्याण चाहते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि अंत में विजय सत्य की ही होती है। वह निर्धनों और पीड़ितों के विरुद्ध अन्याय और अत्याचार के सख़्त ख़िलाफ़ थे। उन्होंने एक बार कहा भी था, "हमें हर आंख का हर आंसू पोंछ देना है और जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक हमारा शांतिमय संघर्ष जारी रहेगा और हम चैन से नहीं बैठेंगे।" संघर्ष की राह पर चलने वाले गांधीजी निस्संदेह क्रांतिपुरुष थे। उन्होंने नैतिकता पर सदा बल दिया।

साहित्य और कला के क्षेत्र में भी गांधीजी पूर्ण रूप से सक्रिय रहे। उनके अनुसार, "साहित्य और कला के सृजन का उद्देश्य केवल सृजन करना नहीं बल्कि इसका मूल ध्येय मानव-कल्याण होना चाहिए"। जो कला सृजन की आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं कर पाए अथवा जिसमें आत्माभिव्यक्ति की क्षमता न हो, उसे उत्कृष्ठ सृजन के रूप में गांधीजी स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने कहा भी था, "मेरे लेखों का मेहनत से अध्ययन करने वालों और उनमें दिलचस्पी लेने वालों से, मैं यह कहना चाहता हूं कि मुझे हमेशा एक ही रूप में दिखाई देने की कोई परवाह नहीं है। सत्य की अपनी खोज में, मैंने बहुत से विचारों को छोड़ा है और अनेक नई बात मैं सीखा भी हूं। उम्र में भले मैं बूढ़ा हो गया हूं लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा आंतरिक विकास होना बंद हो गया है या देह छूटने के बाद मेरा विकास बंद हो जाएगा। मुझे एक ही चिंता है और वह है प्रतिक्षण सत्य-नारायण की वाणी का अनुसरण करने की मेरी तत्परता। इसलिए जब किसी पाठक को, मेरे दो लेखों में विरोध जैसा लगे तब अगर उसे मेरी समझदारी में विश्वास हो, तो वह एक ही विषय पर लिखे, दो लेखों में से, बाद के लेख को प्रमाणभूत माने।"

गांधी 'स्वराज' को पवित्र शब्द मानते थे। उनके सपनों के 'स्वराज' में भेदभाव का कोई स्थान नहीं था। स्त्री-पुरुष समानता उनका परम लक्ष्य था। उन्होंने स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक-शैक्षणिक स्वतंत्रता की बात की थी।
शास्त्रों में कहा गया है 'स्वच्छता ही देवत्व है'। गांधीजी ने भी स्वच्छता पर विशेष बल दिया था जिसकी आज परम आवश्यकता भी है। उन्होंने यह भी कहा था, "अगर हमारे पड़ोसी स्वच्छ नहीं हैं तो हमारी निजी स्वच्छता पंगु है।"

"तुम्हें एक जंतर देता हूं। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारी अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ—जो सबसे ग़रीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा?"

गांधीजी का यह कथन शत-प्रतिशत आज भी प्रासंगिक है। गांधीजी की यह कसौटी जीवन के हर क्षेत्र पर लागू होती है, साहित्य पर भी क्योंकि साहित्य जीवन से समान रूप से जुड़ा हुआ है।

अंत में गोपाल सिंह 'नेपाली' की कविता की निम्न पंक्तियां बापू को स्मरण करते हुए—

जो देश का दुख हर गई, स्वाधीन हमको कर गई
वह प्रार्थना थी प्रार्थना, बापू तुम्हारी प्रार्थना
पहले उठा था एक स्वर
इंसानियत के नाम पर
जनता उठी जयघोष कर
हलचल मची फिर देशभर
जो क्रांति बनकर छा गई,
सुख-शांति बनकर आ गई
वह कल्पना थी कल्पना,
बापू, तुम्हारी कल्पना।

शुभकामनाओं के साथ!

पत्र



साहित्य अपने में अकेला नहीं

● जून, 2015 अंक पढ़ा, समझा और साहित्य की अमरता एवं विशालता से भी अभिभूत हुआ या कह लीजिए सम्मोहित हुआ।

विष्णु खरे, राजेश हजेला, रतन सिंह और 'मैं एक फ़रमाइशी लेखक हूं, नामवर सिंह, 'सौंदर्य की कोई सीमा नहीं' अर्पणा कौर का साक्षात्कार पढ़ा। ग़ज़ल, गीत ख़ासकर योगेंद्र दत्त शर्मा जी का पसंद आया।

सच कहूं तो मानसून के आगमन के साथ आपने मन को प्रसन्न कर देने वाला अंक प्रस्तुत किया।

महोदय—साहित्य में आजकल 'दलित साहित्य' पर चर्चाएं ज़ोरों पर रहती हैं। इस बिंदु पर प्रकाश डालें अगले अंकों में। वैसे मेरी निजी सहमति यह है कि साहित्य अपने में 'अकेला' नहीं है वह किसी न किसी समाज का या फिर सभ्यता का प्रतिनिधि ही होता है।

—दीपेन्द्र बहादुर सिंह,
इलाहाबाद (उ.प्र.)

पसंद आया

● 'आजकल' के जून, 2015 के अंक में गुंटर ग्रास के विषय में आलेख और खुशवंत सिंह का स्मरण लेख बहुत ही प्रभावशाली और अत्यधिक पसंद आया। दोनों अद्भुत और सटीक हैं। हरिपाल त्यागी की लेखनी भी सशक्त और चित्रात्मक है। 'गंगातट के रेखाचित्र' ने मन मोह लिया। यशपाल के ऊपर संस्मरण संग्रहणीय है और नामवर सिंह का साक्षात्कार भी पठनीय है।

—पी.के. सिंह, बुद्धा कॉलोनी, पटना

अच्छा अनुभव रहा

● जून, 2015 को यदि साक्षात्कार अंक कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। तीनों साक्षात्कार की विधा एक विलक्षण कला है। इस विधा को समझने के लिए इस प्रकार के साक्षात्कार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। 'मैं एक फ़रमाइशी लेखक हूं' में हिंदी साहित्य के वर्तमान दौर के सर्वाधिक चर्चित और गंभीर आलोचक साहित्यकार नामवर सिंह के विचारों को जानना एक अच्छा अनुभव रहा। बलराम प्रसाद को धन्यवाद इतने अच्छे और सार्थक प्रश्नों को उनके समक्ष रखने के लिए। वरिष्ठ कवि अश्वघोष का ये कहना 'कविता के भविष्य को लेकर आशावादी हूं' सचमुच एक नई उम्मीद पैदा करता है। अर्पणा कौर का साक्षात्कार उनकी कला को समझने का यत्न है।

—नीरज कुमार झा, हरेहरपुर,
दरभंगा (बिहार)

अच्छे प्रश्नोत्तर

● इस अंक में दरअसल सभी विधाओं में उत्तम रचनाएं दी गई हैं। साक्षात्कार विधा में तीन साक्षात्कार हैं वरिष्ठ साहित्यकार-आलोचक नामवर सिंह का बलराम प्रसाद द्वारा, कवि अश्वघोष का रोहित कौशिक द्वारा तथा वरिष्ठ चित्रकार अर्पणा कौर का भुवनेश्वर भास्कर द्वारा लिए गए तीनों साक्षात्कार मैंने मनोयोग से पढ़े और मुझे बेहद अच्छे प्रश्नोत्तर लगे। कहानी-स्तंभ में दो कहानी पढ़ी और दोनों प्रभावशाली लगी।

उषा यादव बड़ों के साथ-साथ बाल साहित्य की तो अत्यंत सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं। उनकी कहानी 'रक्षा कवच' मुझे बहुत प्रभावशाली व पठनीय लगी। दरअसल इस कहानी में लेखिका ने महिला शिक्षा के महत्व को कहानी के माध्यम से शीर्ष महत्व दिया और इंगित किया है कि आजकल जब महिलाओं को अनेक तरह से भेदभाव तथा प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है तब उनकी शिक्षा ही उनको ऐसी बाधाओं से पार लगाने की क्षमता रखती है। संदेश कहानी में प्रभावी ढंग से आया है।

'मुझे क्या? मेरा क्या?' शशिभूषण सिंघल की दिखावा करने की मानसिकता तथा यथार्थ के धरातल की वास्तविकता की प्रभावी रचना है। कविताओं में कुसुम भट्ट की प्रभावशाली कविताएं हैं। पवनेश ठाकुराठी 'पवन' की भी तीनों कविताएं ध्यातव्य हैं।

सुदर्शन वशिष्ठ का 'पर्वतों का कुशल चितेरा' निकोलस के. रोरिक (सुप्रसिद्ध चित्रकार) पर बहुत उल्लेखनीय कला सामग्रीपरक लेख है। इसी तरह हरिपाल त्यागी (सुप्रसिद्ध लेखक, चित्रकार) का लेख संस्मरणात्मक 'गंगा तट के रेखा चित्र' जो कि पं. शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' काशिकेय पर संस्मरण है, भी बहुत उल्लेखनीय है। राकेश चक्र का 'योग : स्वस्थ रखने का विज्ञान', रतन सिंह का यशपाल पर संस्मरण, विष्णु खरे का गुंटर ग्रास पर लेख सभी अत्यंत महत्वपूर्ण लगे।

—शशिभूषण बडोनी,
शमशेरगढ़, देहरादून (उत्तराखंड)

छंदता प्रभावित हुई है

● जून अंक में 'एक क़दम स्वच्छता की ओर' तथा 'योग दिवस' पर पूरक सामग्री लगी। इसी प्रकार कृषि क्षेत्र, उद्योग-धंधे तथा स्वरोज़गार के तथ्यों की पड़ताल की जानी चाहिए। श्रद्धांजलि में गुंटर ग्रास जो पश्चिमी जर्मनी के साहित्यकार हैं पर अच्छी जानकारी दी गई है साथ ही खुशवंत सिंह और यशपाल की स्मृति भी प्रशंस्य है। यदाकदा अचर्चित, अज्ञात तथा अनाम साहित्यकारों को भी सामने लाना चाहिए।

'भारत की सामासिक संस्कृति और हिंदी' तथा 'ग्रामीण समाज और साहित्य' जनजीवन से जुड़ी भावनाओं का प्रकटीकरण करती है। रोशन लाल 'रौशन' की ग़ज़ल अच्छी लगी। विचार-कविताओं को अधिक स्थान दिया जा रहा है जिससे छंदता प्रभावित हुई है। उर्दू ग़ज़लों के साथ हिंदी ग़ज़लों को भी अपेक्षित सम्मान मिला चाहिए।

—गौरी शंकर वैश्य 'विनम्र',
लखनऊ (उ.प्र.)

ऐतिहासिक अंक

● जून अंक मिला। हरिपाल त्यागी का लेख 'गंगा-तट के रेखाचित्र' वास्तव में बहुत बेजोड़ है। रुद्रजी के व्यक्तित्व के बारे में इससे पता चलता है तथा 'बहती गंगा' के स्थानों का चित्र है, इसका भी पता चला। 'ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' के माध्यम से राजेश हजेला ने जन्म शताब्दी वर्ष में खुशवंत सिंह को याद किया है।

सत्यव्रत तिवारी का लेख 'ग्रामीण समाज और साहित्य' ज्ञानवर्द्धक लगा अगर लोक साहित्य में ग्रामीण समाज का भी वर्णन रहता तो चार चांद लग जाता। कुल मिलाकर यह अंक वास्तव में ऐतिहासिक अंक है।

—रामनिवास सिंह यादव, ग़ाज़ीपुर
(उ.प्र.)

वैश्विक रूप से प्रामाणिक

● जून 2015 अंक में 'एक कदम स्वच्छता की ओर' ने राष्ट्रीय अभियान के प्रति गंभीर आलेख के द्वारा सार्थक प्रयास किया है। स्वच्छता के संदर्भ में विभिन्न स्तरों से लेकर पूर्व में कोशिशों को स्पष्ट किया है। जिस प्रकार से 'स्वच्छ

भारत अभियान' की नीतियों को आंकड़ों द्वारा जरूरी दर्शाया गया है, वह प्रासंगिक तो है ही साथ में अभियान के प्रति आकर्षण भी बढ़ाता है। राष्ट्रीय और वैश्विक संदर्भ में स्वच्छता अभियान तार्किक रूप से सही दिशा को व्यक्त करता है। योग दिवस के अंतर्गत 'योग स्वस्थ रखने का विज्ञान' शीर्षक लेख से योग संबंधी जानकारी सुलभ हो पाई है। निश्चित रूप से योग के अंतर्राष्ट्रीय मान्यता के भारतीय सभ्यता-संस्कृति के युगीन वैज्ञानिक महत्व को प्रतिष्ठित किया है! 'विश्व हिंसा दिवस' के बाद 'योग दिवस' के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहमति ने भारत की आधारभूत परंपरा और विश्वास को स्वीकार किया। अब वह दिन ज्यादा दूर नहीं जब भारतीय चिंतन और नीतियों को वैश्विक रूप से प्रामाणिक माना जाएगा।

–अमित पांडेय 'शाश्वत', भोजपुर

रक्षा-कवच

● जून 2015 अंक में 'रक्षा-कवच में दहेज प्रथा' के नृत्य को अनुभव कर लगा कि आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसां होना। आख़िर सुरम्या का रक्षा-कवच विद्या बनी। लोग सुख के लिए धन के पीछे भागते हैं लेकिन धन का सुख ठहरता नहीं है और विद्या जीवन संजीवनी है। नारी के दुख का मूल है। 'पराधीन सपनेहुं सुख नाहि' लेकिन रोशनी तो सौ दुखों की दवा है। 'ब्रेन डेड' (लेखिका : चारुकेशरी) कहानी भी डायलेसिस से जूझते पति के लिए पत्नी के हिम्मत की दास्तान है। पति के जीवन के लिए स्त्री-धन का न्यौछावर। ऊपरवाले पर भरोसा लेकिन होनी का कौन टाल सकता है! ग्रामीण समाज और साहित्य बहुत अच्छा निबंध है जो साहित्य की महत्ता को जगज़ाहिर करता है। साहित्य समाज का मानसिक ताकत है। अनपढ़ लोग भी गीता, मानस, रहीम, कबीर, जायसी, ग़ालिब, मीर, इक़बाल के दोहे, ग़ज़ल विषम परिस्थितियों में सुनाकर अपना मनोबल बरकरार रखते हैं। ना काहू से दोस्ती ... में खुशवंत सिंह ने लेखन-दोस्ती और साहित्य रस को एक नए मुकाम तक पहुंचाया। 'ए ट्रेन टु पाकिस्तान' कितनी बार पढ़ा लेकिन मन नहीं भरा। पत्रकारिता जगत को भी खुशवंत ने नए आयाम और ऊंचाइयां दी। सृजन के बीच ... में फ़ौजदार माली ने हिटलर के अनोखे गुणों को उजागर किया।

–चन्द्रशेखर चौधरी, औरंगाबाद, देवघर

अंक का कलेवर आकर्षक लगा

● 'आजकल' का जून 2015 का अंक का कलेवर बड़ा आकर्षक लगा। विष्णु खरे का अपने समय और समाज को जगाता नक्कारची, राजेश हजेला का ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर, हरिपाल त्यागी का गंगातट के रेखाचित्र, सुदर्शन वशिष्ठ का पर्वतों का कुशल चितेरा, रतन सिंह का यशपाल की यादें, कुसुम भट्ट एवं योगेंद्र दत्त शर्मा की कविताएं, नामवर सिंह से बलराम प्रसाद की बातचीत मैं एक फ़रमायशी लेखक हूं तथा अर्पणा कौर से भुवनेश्वर भास्कर का साक्षात्कार सौंदर्य की कोई सीमा नहीं है, बड़ा रुचिकर लगा।

–नंद किशोर तिवारी, मारुतिनगर, वाराणसी (उ.प्र.)

काव्यात्मक रूप

● जून 2015 अंक में प्रकाशित वरिष्ठ कवि अश्वघोष का साक्षात्कार 'कविता के भविष्य को लेकर आशावादी हूं' मुझे विशेष आकर्षित किया।

कविता मानवीय संवेदनाओं का काव्यात्मक रूप है। अतः जब तक मानवीय संवेदनाएं जीवित रहेंगी तब तक कविता भी जीवित रहेगी। अश्वघोष ने कवि और कविता को बेहतर ढंग से पाठकों के समक्ष रखा है। कविता से छंद की विदाई के बारे में कहते हैं कि यह सब काव्यांदोलनों का शोर है। यदि ग़ौर से देखा जाए तो 'छंद' तो सनातन है और रहेगा। यदि संकेत 'छंदमुक्त कविता' की ओर है तो उसमें भी छंद की एक आंतरिक 'लय' है और वही उसका काव्यानुशासन है। मुक्त छंद कविता में भी आंदिकता उसे चुस्त-दुरुस्त बनाता है और एक अभिनव आनंद की सृष्टि भी करता है।

–अशोक कुमार ठाकुर, दरभंगा (बिहार)

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका *----------का ❑ एक वर्ष (100 रुपये)

❑ दो वर्ष (180 रुपये) ❑ तीन वर्ष (250 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं।

शुल्क का रुपये---------- डिमांड ड्राफ्ट

----------दिनांक--------संलग्न है।

हस्ताक्षर ----------

नाम : ----------

पता : ----------

पिन : ❑❑❑❑❑❑

● कृपया अपना चंदा डी.डी. *अपर महा निदेशक (प्रभारी), प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय* के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिंदी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिंदी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 48-53, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

गांधी जयंती पर विशेष

हिंदी भाषा के प्रबल पक्षधार

महात्मा गांधी किसी भाषा के विरोधी नहीं थे। अधिक से अधिक भाषाओं को सीखना वह उचित समझते थे। प्रत्येक भाषा के ज्ञान को वह महत्वपूर्ण मानते थे किंतु उन्होंने मातृभाषा और हिंदी का सदैव समर्थन किया, बता रहे हैं **कुमार कृष्णन**

महात्मा गांधी के सपनों के भारत में एक सपना राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठित करने का भी था। उन्होंने कहा था कि राष्ट्रभाषा के बिना कोई भी राष्ट्र गूंगा हो जाता है। हिंदी को राष्ट्रीय पहचान दिलाने में एक राजनैतिक शख़्सियत के रूप में उनका महत्वपूर्ण योगदान है।

महात्मा गांधी की मातृभाषा गुजराती थी और उन्हें अंग्रेज़ी भाषा का उच्चकोटि का ज्ञान था किंतु सभी भारतीय भाषाओं के प्रति उनके मन में विशिष्ट सम्मान की भावना थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करे, उसमें कार्य करे किंतु देश में सर्वाधिक बोली जाने वाली हिंदी भाषा भी वह सीखे, यह उनकी हार्दिक इच्छा थी।

गांधीजी प्रांतीय भाषाओं के पक्षधर थे, वहां की शिक्षा का माध्यम भी प्रांतीय भाषाओं को बनाना चाहते थे। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने के संदर्भ में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था कि–"सारे देश के लोग हिंदी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लें ताकि देश का राजकाज उसमें चलाया जा सके और सभी भारतवासी एक सामान्य भाषा में संवाद कायम कर सकें।" वे अकेले राजनैतिक व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत की भाषा समस्या, राष्ट्रभाषा पर इतना ध्यान दिया। आधुनिक हिंदी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक, निबंधकार, विचारक एवं कवि रामविलास शर्मा का यह कथन–"सत्य, अहिंसा, स्वराज, सर्वोदय–किसी भी अन्य विषय पर आज उनके लिए उपादेय नहीं है, जितने भाषा समस्या पर। अंग्रेज़ी, भारतीय भाषाओं, राष्ट्रभाषा हिंदी और हिंदी-उर्दू की समस्या पर उन्होंने जितनी बातें कही हैं, वे बहुत ही मूल्यवान हैं। किसी भी राजनैतिक नेता ने इन समस्याओं पर इतनी गहराई से नहीं सोचा, किसी भी पार्टी और उसके नेताओं ने भाषा समस्या के सैद्धांतिक समाधान को नित्य प्रतिदिन की कार्रवाई में इस तरह अमलीजामा नहीं पहनाया, जैसे गांधी ने। उनकी नीति के मूल सूत्र छोड़ देने से यह समस्या दिन-प्रतिदिन उलझती जा रही है।"



चेन्नई में हिंदी प्रचार सभा को संबोधित करते महात्मा गांधी

गांधीजी अपनी मां, मातृभूमि और मातृभाषा से अटूट स्नेह रखते थे। सन् 1906 ई. में उन्होंने अपनी एक प्रार्थना में कहा था–"भारत की जनता को एक रूप होने की शक्ति और उत्कंठा दे। हमें त्याग, भक्ति और नम्रता की मूर्ति बना जिससे हम भारत देश को ज्यादा समझें, ज्यादा चाहें। हिंदी एक ही है। उसका कोई हिस्सा नहीं है। हिंदी के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी मुझे इस दुनिया में प्यारा नहीं है।" इस प्रार्थना से उनका राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय एकता के प्रति अनुराग पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। गांधी भाषा को माता मानते थे तथा हिंदी का सबल समर्थन करते थे। उन्होंने 'हिंद स्वराज' (सन् 1909 ई.) में अपनी भाषा-नीति की घोषणा इस प्रकार की थी–"सारे हिंदुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए, वह तो हिंदी ही होना चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट होना चाहिए। हिंदू-मुसलमानों के संबंध ठीक रहें, इसलिए हिंदुस्तानियों को इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है। ऐसा होने से हम आपस के व्यवहार में अंग्रेज़ी को निकाल सकेंगे।"

महात्मा गांधी ने भारत आकर अपना पहला महत्वपूर्ण भाषण 6 फरवरी 1916 को बनारस में दिया था। उस दिन भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंग वहां बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का शिलान्यास करने आए थे। महामना मदनमोहन मालवीय के विशेष निमंत्रण पर महात्मा गांधी भी इस समारोह में शामिल हुए थे। समारोह की अध्यक्षता महाराज दरभंगा कर रहे थे। मंच पर लार्डहार्डिंग के साथ एनी बेसेंट और मालवीयजी भी थे। समारोह में बड़ी संख्या में देश के राजा-महाराजा भी शामिल हुए थे। ये लोग देश के कोने-कोने से तीस विशेष रेलगाड़ियों से आए थे। मालवीयजी के आग्रह पर जब महात्मा गांधी बोलने खड़े हुए तो उनके अप्रत्याशित भाषण से सभी अवाक् और स्तब्ध रह गए थे।

सर्वप्रथम उन्होंने समारोह की कार्रवाई एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ी में चलाए जाने पर आपत्ति की और दुख जताया। फिर उन्होंने काशी विश्वविद्यालय मंदिर की गलियों में व्याप्त गंदगी की आलोचना की। इसके बाद उन्होंने मंच पर और सामने विराजमान रत्नजड़ित आभूषणों से दमकते राजा-महाराजाओं की उपस्थिति को बेशकीमती ज़ेवरों की भड़कीली नुमाइश बताते हुए उन्हें देश के असंख्य दरिद्रों की दारुण स्थिति का ध्यान दिलाया। उन्होंने जोड़ा कि जब तक देश का अभिजात वर्ग इन मूल्यवान आभूषणों को उतारकर उसे देशवासियों की अमानत समझते हुए पास नहीं रखेगा, तब तक भारत की मुक्ति संभव नहीं होगी। फिर उन्होंने 1916 के कांग्रेस अधिवेशन में अपना भाषण हिंदी में दिया। महात्मा गांधी भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में जनसंपर्क हेतु हिंदी को ही सर्वाधिक उपयुक्त भाषा समझते थे।

इसके बाद 15 अक्टूबर 1917 को भागलपुर के कटहलबाड़ी क्षेत्र में बिहारी छात्रों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया था। देशरत्न राजेंद्र प्रसाद के निर्देश पर बिहारी छात्रों के संगठन का काम लालूचक के कृष्ण मिश्र को सौंपा गया था। बिहारी छात्रों के सम्मेलन की अध्यक्षता महात्मा गांधी ने की थी। अपने संबोधन में महात्मा गांधी ने कहा था–'मुझे अध्यक्ष का पद देकर और हिंदी में व्याख्यान देना और सम्मेलन का काम हिंदी में चलाने की अनुमति देकर आप विद्यार्थियों ने मेरे प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया है। इस सम्मेलन का काम इस प्रांत की भाषा में ही और वही राष्ट्रभाषा भी है–करने का निश्चय दूरंवेशी से किया है।" इस सम्मेलन में सरोजनी नायडू का भाषण अंग्रेजी से हिंदी अनुदित होकर छपा था। यह सम्मेलन आगे चलकर भारत की राजनीति, विशेषकर स्वतंत्रता संग्राम में राजनीति का कैनवास बना, जिससे घर-घर में स्वतंत्रता संग्राम का शंखनाद करना मुमकिन हो सका। वहीं प्रसिद्ध गांधीवादी काका कालेलकर ने इस सम्मेलन के भाषण को राष्ट्रीय महत्व प्रदान कर राष्ट्रभाषा हिंदी की बुनियाद डाली थी। बाद में इसी कटहलबाड़ी परिसर में मारवाड़ी पाठशाला की स्थापना हुई।

सन् 1917 ई. में कलकत्ता (कोलकाता) में कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर राष्ट्रभाषा प्रचार संबंध कांफ्रेन्स में तिलक ने अपना भाषण अंग्रेज़ी में दिया था जिसे सुनने के बाद गांधीजी ने कहा था–"बस इसलिए मैं कहता हूं कि हिंदी सीखने की

आवश्यकता है। मैं ऐसा कोई कारण नहीं समझता कि हम अपने देशवासियों के साथ अपनी भाषा में बात न करें। वास्तव में अपने लोगों के दिलों तक तो हम अपनी भाषा के द्वारा ही पहुंच सकते हैं।"

महात्मा गांधी किसी भाषा के विरोधी नहीं थे। अधिक से अधिक भाषाओं को सीखना वह उचित समझते थे। प्रत्येक भाषा के ज्ञान को वह महत्वपूर्ण मानते थे किंतु उन्होंने मातृभाषा और हिंदी का सदैव सबल समर्थन किया। एक अवसर पर उन्होंने कहा था—"भारत के युवक और युवतियां अंग्रेज़ी और दुनिया की दूसरी भाषाएं खूब पढ़ें मगर मैं हरगिज़ यह नहीं चाहूंगा कि कोई भी हिंदुस्तानी अपनी मातृभाषा को भूल जाए या उसकी उपेक्षा करे या उसे देखकर शरमाए अथवा यह महसूस करे कि अपनी मातृभाषा के ज़रिए वह ऊंचे से ऊंचा चिंतन नहीं कर सकता।"

गांधीजी शिक्षा के माध्यम के लिए मातृभाषा को ही सर्वोत्तम मानते थे। उनका स्पष्ट मत था कि शिक्षा का माध्यम तो प्रत्येक दशा में मातृभाषा ही होनी चाहिए। 1918 में वाइसराय की सभा में जब रंगरूटों की भर्ती के सिलसिले में गांधी गए तो उन्होंने हिंदी-हिंदुस्तानी में बोलने की इजाज़त मांगी। इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"हिंदुस्तानी में बोलने के लिए मुझे बहुतों ने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि वाइसराय की सभा में हिंदुस्तानी में बोलने का यह पहला उदाहरण था। पहले उदाहरण की बात सुनकर मैं शरमाया। अपने ही देश में, देश से संबंध रखने वाले काम की सभा में, देश की भाषा का बहिष्कार कितने दुख की बात है।"



वर्धा का बापू कुटी जहां से बापू अन्य कार्यों के साथ-साथ हिंदी के प्रचार का संदेश भी देते थे

उनकी इच्छा थी कि भारत के प्रत्येक प्रदेश में शिक्षा का माध्यम उस प्रदेश की भाषा को होना चाहिए। उनका कथन था—"राष्ट्र के बालक अपनी मातृभाषा में नहीं अन्य भाषा में शिक्षा पाते हैं, वे आत्महत्या करते हैं। इससे उनका जन्मसिद्ध अधिकार छिन जाता है। विदेशी भाषा से बच्चों पर बेजा ज़ोर पड़ता है और उनकी सारी मौलिकता नष्ट हो जाती है। इसलिए किसी विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना मैं राष्ट्र का बड़ा दुर्भाग्य मानता हूं।"

इसके बाद गांधीजी ने कांग्रेस के अंदर प्रवेश कर उसकी कार्रवाइयों में हिंदी को स्थान दिलाने के प्रयास शुरू किया। राष्ट्रीय नेताओं—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक से हिंदी सीखने का आग्रह और रवींद्रनाथ ठाकुर से हिंदी सीखने का आग्रह महत्वपूर्ण है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने काठियावाड़ में अपना भाषण हिंदी में दिया।

इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर उन्होंने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया था—"यदि हिंदी, अंग्रेज़ी का स्थान ले ले तो कम से कम मुझे तो अच्छा ही लगेगा। अंग्रेज़ी अंतरराष्ट्रीय भाषा है, लेकिन वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। अगर हिंदुस्तान को सचमुच हमें एक राष्ट्र बनाना है तो कोई माने या न माने राष्ट्रभाषा तो हिंदी ही बन सकती है।" महात्मा गांधी ने भाषा के प्रश्न को स्वराज से जोड़ दिया। उन्होंने कहा कि यदि स्वराज देश के करोड़ों भूखे, अनपढ़, दलितों के लिए होना है तो जन-सामान्य की भाषा हिंदी को राष्ट्रीय भाषा बनाना होगा।

गांधीजी मार्च 1918 में इंदौर में संपन्न हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति बनाए गए। सभापति के रूप में उन्होंने अपने भाषण में ज़ोरदार शब्दों में कहा, "जैसे अंग्रेज़ अपनी मादरी जबान अंग्रेज़ी में ही बोलते और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं, वैसे ही मैं आप से प्रार्थना करता हूं कि आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्रदान करें। हिंदी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।" इसी भाषण में उन्होंने हिंदी के क्षेत्र-विस्तार की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा, "साहित्य का प्रदेश भाषा की भूमि जानने पर ही निश्चित हो सकता है। यदि हिंदी भाषा की भूमि सिर्फ़ उत्तर प्रांत की होगी, तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिंदी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी, तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। जैसे भाषक वैसी भाषा। भाषा-सागर में स्नान करने के लिए पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर से पुनीत महात्मा आएंगे, तो सागर का महत्व स्नान करने वालों के अनुरूप होना चाहिए।"

उपर्युक्त वक्तव्य से जाहिर है कि उत्तर प्रांत में हिंदी भाषा एवं साहित्य का जो उत्थान हो रहा था, उससे गांधीजी अवगत थे लेकिन संतुष्ट नहीं, क्योंकि उनकी समझ में हिंदी का विस्तार उत्तर से दक्षिण तक, पूर्व से पश्चिम तक सबके लिए होना चाहिए—उसे एक सागर की तरह व्यापक होना चाहिए, न कि नदी की तरह संकुचित। इसी बात को बाद में उनके परम शिष्य विनोबा भावे ने इस प्रकार कहा, हिंदी को नदी नहीं, समुद्र बनना होगा अर्थात् उत्तरी प्रांत में उभरा हिंदी नवजागरण एक उफनती नदी जैसा था, तो उसे राष्ट्रव्यापी सागर में परिणत करने का प्रयास गांधीजी के द्वारा हुआ, यह मानने में कोई अतिवाद नहीं है। इस तथ्य को ध्यान में रखने में हिंदी-भाषी प्रदेश के आधार पर हिंदी जाति की बात करना असंगत प्रतीत होता है। वस्तुतः गुजराती या बंगला या मराठी की तर्ज़ पर हिंदी को किसी प्रदेश विशेष की जाति की भाषा कहना, उसके कद को छोटा करना होगा।

इंदौर साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर गांधीजी ने हिंदी के प्रचार के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य का आरंभ कराया जिसका संबंध दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार से था। उन्होंने अपने उसी भाषण में कहा कि सबसे कष्टदायी मामला द्रविड़ भाषाओं के लिए है। वहां तो कुछ प्रयत्न भी नहीं हुआ है। हिंदी भाषा सिखाने वाले शिक्षकों को तैयार करना चाहिए। ऐसे शिक्षकों की बड़ी ही कमी है। इस कथन से स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में हिंदी के प्रचार को लेकर तब तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ था। दक्षिण भारतीयों के बीच हिंदी का कैसे प्रचार हो, यह गांधीजी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या थी।

भारतीय राजनेताओं में गांधीजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने द्रविड़ प्रदेश में राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए हिंदी को विधिवत् सिखाया जाना आवश्यक समझा और उसके लिए ठोस योजना प्रस्तुत की जिसके अंतर्गत पुरुषोत्तम दास टंडन, वेंकटेश नारायण तिवारी, शिव प्रसाद गुप्ता सरीखे हिंदी-सेवियों को लेकर दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का गठन किया। इंदौर साहित्य-सम्मेलन के समापन के तुरंत बाद गांधीजी ने अखबारों के लिए एक पत्र जारी किया जिसमें उन्होंने दक्षिण वालों को हिंदी सीखने के लिए उत्साहित करते हुए कहा था, यदि हमें स्वराज का आदर्श पूरा करना है तो हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ेगी ही, जिसे देश की विशाल जनता आसानी से समझ और सीख सके। ऐसी भाषा तो सदा से हिंदी ही रही है। मुझे मद्रास प्रांत की जनता की देशभक्ति, आत्मत्याग और बुद्धिमत्ता पर काफी भरोसा है। मैं जानता हूं कि जो भी लोग राष्ट्र की सेवा करना चाहेंगे या अन्य प्रांतों के साथ संपर्क चाहेंगे, उनको त्याग करना ही पड़ेगा, यदि हिंदी सीखने को त्याग ही माना जाए।"

इंदौर हिंदी सम्मेलन के अवसर पर गांधीजी द्वारा व्यक्त विचारों पर ग़ौर करें, तो मानना पड़ेगा कि हिंदी के संबंध में कुछ विशिष्ट बातें पहली बार राष्ट्र के सामने आईं। हिंदी समस्त भारतवर्ष की संपर्क-भाषा बने, यह भारतीय नवजागरण के कई बौद्धिकों द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका था, लेकिन यह कैसे संभव हो सके, इस संबंध में कोई सुनिश्चित योजना उनके द्वारा नहीं प्रस्तुत की जा सकी थी। गांधीजी ने 20 अक्तूबर 1917 ई. को गुजरात के द्वितीय शिक्षा सम्मेलन में दिए गए अपने भाषण में राष्ट्रभाषा के कुछ विशेष लक्षण बताए थे, वे इस प्रकार हैं—

1. वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।
2. उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक कामकाज शक्य होना चाहिए।
3. उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों।
4. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान होनी चाहिए।
5. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या अस्थायी स्थिति पर ज़ोर न दिया जाए।

अंग्रेज़ी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं है। यह माने बिना काम चल नहीं सकता। हिंदी भाषा में ये सारे लक्षण मौजूद हैं। हिंदी भाषा मैं उसे कहता हूं जिसे उत्तर में हिंदू और मुसलमान बोलते हैं और देवनागरी या फ़ारसी में लिखते हैं।

20 अक्तूबर के बाद 11 नवंबर, 1917 को बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर शहर में भाषण करते हुए उन्होंने कहा, "मैं कहता आया हूं कि राष्ट्रीय भाषा एक होनी चाहिए और वह हिंदी होनी चाहिए। हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम अपना राष्ट्रीय कार्य हिंदी भाषा में करें। हमारे बीच हमें अपने कानों में हिंदी के ही शब्द सुनाई दें, अंग्रेज़ी के नहीं। इतना ही नहीं, हमारी धारा सभाओं में जो वाद-विवाद होता है, वह भी हिंदी में होना चाहिए। ऐसी स्थिति लाने के लिए मैं जीवन-भर प्रयत्न करूंगा।"

इस दृष्टि से गांधीजी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने हिंदी के राष्ट्रव्यापी प्रचार-प्रसार के लिए सुविचारित योजना प्रस्तुत की और हिंदी प्रचार के कार्य को मिशनरी स्वरूप प्रदान किया। धर्म के प्रचार को लेकर तो मानव-इतिहास में बहुतेरे मिशनरी, आत्मत्यागी महात्मा लोग होते आए हैं, लेकिन किसी भाषा के प्रचार के लिए मिशन की तरह, आत्मत्याग के रूप में काम करने का आह्वान करने वाले गांधीजी कदाचित् प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने यह आह्वान हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए किया।

13 दिसंबर, 1920 को कलकत्ता में भाषण करते हुए गांधीजी ने कहा, "यह निश्चित है कि सारे देश में जहां-कहीं देश के विभिन्न हिस्सों के लोगों की मिली-जुली सभाएं और बैठकें होंगी, उनमें अभिव्यक्ति का राष्ट्रीय माध्यम हिंदी ही होगी।" 22 जनवरी, 1921 को जारी अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा, "जो बात मैं ज़ोर देकर आपसे कहना चाहता हूं वह यह कि आप सबकी एक सामान्य भाषा होनी चाहिए, सभी भारतीयों की एक सामान्य भाषा होनी चाहिए, ताकि वे भारत में जिस हिस्से में भी जाएं, वहां के लोगों से बातचीत कर सकें। इसके लिए आपको हिंदी को अपनाना चाहिए।" 23 मार्च, 1921 को विजयनगरम् में राष्ट्रभाषा हिंदी के महत्व को बताते हुए उन्होंने कहा, "हिंदी पढ़ना इसलिए जरूरी है कि उससे देश में भाईचारे की भावना पनपती है। हिंदी को देश की राष्ट्रभाषा बना देना चाहिए। हिंदी आम जनता की भाषा होनी चाहिए। आप चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र एक और संगठित हो, इसलिए आपकी प्रांतीयता के अभियान को छोड़ देना चाहिए। हिंदी तीन ही महीनों में सीखी जा सकती है।"

हिंदी के सवाल को गांधीजी केवल भावनात्मक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं मानते थे, अपितु उसे एक राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में भी देखने पर ज़ोर देते थे। 10 नवंबर, 1921 के 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा, "हिंदी के भावनात्मक अथवा राष्ट्रीय महत्व की बात छोड़ दें तो भी यह दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक आवश्यक मालूम होता जा रहा है कि तमाम राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को हिंदी सीख लेनी चाहिए और राष्ट्र की तमाम कार्यवाही हिंदी में ही की जानी चाहिए"। इस प्रकार असहयोग आंदोलन के दौरान गांधीजी ने पूरे देश में हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचार काफ़ी ज़ोरदार ढंग से किया और उसे राष्ट्रीय एकता, अखंडता, स्वाभिमान का पर्याय-सा बना दिया।

उन्होंने अपने पुत्र देवदास गांधी को हिंदी-प्रचार के लिए दक्षिण भारत भेजा था। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना उन्हीं की परिकल्पना का परिणाम है। उन्होंने वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना हिंदी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से ही की थी तथा जन-नेताओं को भी हिंदी में कार्य करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया था। उनकी प्रेरणा के ही परिणामस्वरूप हिंदीतर भाषा-भाषी प्रदेशों के स्वतंत्रता सेनानियों ने हिंदी को सीख लिया था और उसे व्यापक जन-सम्पर्क का माध्यम बनाया था।

महात्मा गांधी ने सभी भारतीय भाषाओं का समादर और हिंदी के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए 17 मई, 1942 तथा 9 अगस्त, 1946 को कहा था, "महान प्रांतीय भाषाओं को उनके स्थान से च्युत करने की कोई बात ही नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय भाषा की इमारत प्रांतीय भाषाओं की नींव पर ही खड़ी की जानी है। दोनों का लक्ष्य एक-दूसरे की जगह लेना नहीं, बल्कि एक-दूसरे की कमी को पूरा करना है।" महात्मा गांधी के विचार, महान् भारतीय नेताओं की भावना और हिंदी-भाषा-भाषी जनता की विशाल संख्या को दृष्टिगत रखते हुए पर्याप्त चिंतन-मनन के उपरांत भारतीय संविधान निर्माताओं ने हिंदी को भारतीय संविधान में राजभाषा की प्रतिष्ठा प्रदान की थी। 16 जून, 1920 के 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा, "मुझे पक्का विश्वास है कि किसी दिन हमारे द्रविड़ भाई-बहन गंभीर भाव से हिंदी का अध्ययन करने लगेंगे। आज अंग्रेज़ी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए वे जितनी मेहनत करते हैं, उसका आठवां हिस्सा भी हिंदी सीखने में करें, तो बाकी हिंदुस्तान जो आज उनके लिए बंद किताब की तरह है, उससे वे परिचित होंगे और हमारे साथ उनका ऐसा तादात्म्य स्थापित हो जाएगा जैसा पहले कभी न था।"

हिंदी के प्रचार को लेकर गांधीजी का ध्यान देश के दक्षिणी छोर की तरफ़ जितना था, उतना ही पूर्वी छोर की तरफ़ भी था। मार्च, 1922 में गांधीजी ने असहयोग आंदोलन को जरूर स्थगित कर दिया लेकिन राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार का उनका कार्य जारी रहा। 24 मार्च, 1925 को हिंदी प्रचार कार्यालय, मद्रास में बोलते हुए गांधीजी ने कहा, "मेरी राय में भारत में सच्ची राष्ट्रीयता के विकास के लिए हिंदी का प्रचार एक जरूरी बात है, विशेष रूप से इसलिए कि हमें उस राष्ट्रीयता को आम जनता के अनुरूप सांचे में ढालना है।" और सचमुच सच्ची राष्ट्रीयता के विकास के लिए गांधीजी जीवनपर्यंत हिंदी के प्रचार-कार्य में लगे रहे। राष्ट्रभाषा के दायरे से मेहनतकश वर्ग बाहर न रहे, इसका भी गांधीजी ने पूरा ध्यान रखा। 21 दिसंबर, 1933 को पैराम्बूर की मज़दूर सभा में बोलते हुए गांधीजी ने कहा, "साथी मज़दूरो, यदि आप सारे भारत के मज़दूरों के दुःख-सुख को बांटना चाहते हैं, उनके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, तो आपको हिंदी सीख लेनी चाहिए, जब तक आप ऐसा नहीं करते, तब तक उत्तर और दक्षिण भारत में कोई मेल नहीं हो सकता।"

जब भारत को स्वतंत्रता मिली ही थी, देश-विदेश के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के पत्रकार इस महत्वपूर्ण घटना के प्रकाशन हेतु भारतीय नेताओं के वक्तव्य, संदेश आदि के लिए आ रहे थे। ऐसे माहौल में एक विदेशी पत्रकार महात्मा गांधी से मिला। उसने बापू से अपना संदेश देने को कहा किंतु वह इस बात पर अड़ रहा था कि बापू अपना संदेश अंग्रेजी में दें। गांधीजी इसके लिए सहमत नहीं हो रहे थे। मगर पत्रकार था कि लगातार ज़िद कर रहा था। उसका कहना था कि संदेश भारतीयों के लिए नहीं पूरी दुनिया के लिए है, इसलिए वह अंग्रेज़ी में ही बात कहें। उन दिनों बापू हिंदी का राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचार भी कर रहे थे। थोड़ी देर तक वह शांत बने रहे, मगर अंततः पत्रकार की बात पर महात्मा गांधी ने उसे दो टूक उत्तर देते हुए कहा, "दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेज़ी नहीं जानता।"

गांधी के अभियान का हश्र यह हुआ कि उत्तर प्रदेश, बिहार और अन्य क्षेत्रों के साहित्यकारों ने जनपदीय भाषा को भूलकर राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के विकास के लिए अपनी कलम चलाई। प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने हिंदी को राष्ट्रीय धर्म के रूप में अपनाया। बिहार में आचार्य शिवपूजन सहाय, राधिकारमण सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी, लक्ष्मी नारायण सुधांशु, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु आदि ने भी अपनी क्षेत्रीय बोलियों के मोह से ऊपर उठकर हिंदी के विकास में योगदान देना अपना राष्ट्रीय धर्म समझा। ❑

संपर्क : द्वारा—बनारसी ठाकुर, दशभुजी स्थान रोड, मोगल बाज़ार, मुंगेर (बिहार)

साक्षात्कार

बा के बिना बापू का अस्तित्व नहीं

तारा गांधी भट्टाचार्य *से* **नाज़ ख़ान** *की बातचीत*

अबोध तारु को मालूम नहीं था कि उसके नवनयन खादी की एक लंगोटी में लिपटे जिस आदर्शवादी गांधी को निहारते थे, वह महज़ उसके दादा ही नहीं, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के नेतृत्वकर्ता थे। उनके अहिंसावादी आंदोलन ने ही आज़ादी की उस दुश्वार राह को आसान कर दिया था, जो हज़ारों लोगों की शहादत से 'लाल' हो चुकी थी। वह नहीं जानती थीं कि जिस दादा की गोद में उन्हें दुलार की थपकियां मिलती थीं, उनके वही दादा देश के लिए राष्ट्रपिता थे, जो सिद्धांतों के पथ पर अहिंसा की ज्योति जलाए हुए थे। उसी ज्योति की लौ एक सैलाब बनकर जनमानस के बहुत बड़े वर्ग को प्रभावित कर रही थी, जिसका नतीजा आज़ादी की सूरत में सामने आया। इन सारे घटनाक्रमों की गवाह रहीं वह नन्ही आंखें, जो गुलाम भारत से आज़ाद भारत तक के सफ़र में हमारे साथ हैं। तारा गांधी भट्टाचार्य एक साधारण-सी सूती साड़ी, चंदन की बिंदी, खुले केश और खादी की शॉल को कांधे पर डाले जब बापू की बात करती हैं तो धाराप्रवाह बोलती जाती हैं, जिसमें वह बचपन की तारु और किशोरवय तारा तक के बापू के साथ अपने जीवन के सफ़र को याद करती हैं।

प्रश्न : **बचपन की तारा कैसी थी और बापू को किस रूप में देखती थी?**

उत्तर : तारा चंचल थी। हर बात को तर्कों से समझने की कोशिश करती थी। ऐसा ही एक वाक़या 1946 में बापू से सर स्टीफर्ड क्रिप्स की मुलाकात के दौरान हुआ। बापू ने उनसे मेरा परिचय कराया, 'मेरी पोती से मिलिए, यह मेरे सबसे छोटे बेटे की बेटी है।' 'हाउ डू यू डू' कहकर सर क्रिप्स ने मुझसे हाथ मिलाने को अपना हाथ आगे बढ़ाया। किसी अंग्रेज़ अफ़सर से मिलने का यह पहला मौका था, फिर अंग्रेज़ी बोलने का मुझे कच्चा अनुभव था। दादा के परिचय में, किसी अंग्रेज़ से हाथ मिलाने के रोमांच में, मैंने उनके अभिनंदन का उत्तर देना ज़रूरी ही नहीं, बल्कि अपना अधिकार समझा और फिर फर्राटे से अंग्रेज़ी बोलती चली गई, जिसका सार यह था कि 'आज मुझे बुख़ार था, मैं अच्छा महसूस कर रही हूं। कल शायद मैं स्कूल जाऊंगी। अगर कल मेरे शरीर में दर्द नहीं हुआ तो मेरी मां मुझे स्कूल जाने देंगी।' उनके एक सवाल के जवाब में मेरा इतना लंबा उत्तर था, जोकि मैंने आप कैसे हैं, इस अर्थ में लिया था। मगर बापू को उनकी किशोर पोती की मानसिक अपरिपक्वता इतनी असह्य हुई कि प्रार्थना के लिए जुटी भीड़ और सर स्टीफर्ड के सामने ही मुझे बुलाया और धीमी आवाज़ में कहा—अंग्रेज़ी में जब कोई 'हाउ डू यू डू' कहे तो सिर्फ़ इसी का उत्तर दो, न कि अपने स्वास्थ्य के बारे में बताने लगो। उनके ये वाक्य वाक़ई मेरे लिए लज्जित करने वाले थे, जिनसे मुझे चोट भी पहुंची। मैंने मां से गुस्से में आकर कहा भी कि यह कैसी भाषा, कैसी सभ्यता है कि हमें हमारे बारे में कुछ कहना नहीं चाहिए। हालांकि अब वे बातें याद करती हूं तो हंसी आती है। बापू हम सबसे बहुत प्रेम करते थे, लेकिन वह हमारी ही तरह देश के हर नागरिक, हर बच्चे से भी इतना ही स्नेह रखते थे। कई बार यह बात मुझे अजीब भी लगी कि बापू औरों को भी उतना ही दुलार दे रहे हैं जितना कि हमें। पर वह राष्ट्रपिता थे, जिनके लिए सारा देश उनकी संतान था।

बा के लिए बतौर पति बापू कैसे थे? आपने क्या महसूस किया?

बा के बिना बापू का कोई अस्तित्व ही नहीं था, बल्कि यह कहूं कि बापू,



बा के बिना राष्ट्रपिता नहीं बन पाते। बा भी बापू के बिना रह नहीं सकती थीं। अक्सर जब हम भाई-बहनों में से कोई बीमार हो जाता, तब बापू, बा को हमारी देखभाल के लिए हमारे पास भेज देते थे। उन दिनों में बा हमारा पूरा ध्यान रखतीं, हमारे साथ रहतीं और हमारे स्वस्थ होते ही बापू के पास चली जाती थीं। दरअसल, उनके मन में पतिसेवा का जो भाव था, वह प्रेम से और भी प्रबल हो गया था। लंबी बीमारी के बाद जब बा की मृत्यु हो गई तो बापू को हमने पहली बार मुस्कानविहीन देखा। बापू को इस तरह हम बच्चों ने कभी नहीं देखा था। वह साधारण पत्नी नहीं थीं। बापू की आज़ादी की लड़ाई में बा भी बराबर की हिस्सेदार थीं। उन्होंने न सिर्फ़ स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सा लिया, बल्कि वह जेल भी गईं। आग़ा खां महल में बापू के साथ बा भी बंदी बनाई गई थीं। उस दौरान लंबी बीमारी की वजह से वह बहुत कमज़ोर हो गई थीं। ऐसे में अंग्रेज़ सरकार ने अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए बा को आज़ाद करने की बात कही, मगर बा ने यह कहकर सरकार का प्रस्ताव ठुकरा दिया कि जब स्वाधीनता संग्राम में असंख्य महिलाएं कारावासों में बंदी हैं, तो वह भी मुक्त नहीं होना चाहतीं।

बा के साथ गुज़रे वक़्त की कोई घटना, जो अब भी स्मृति पटल पर हो?

बा के साथ हमारा बहुत वक़्त गुज़रा। वह बहुत प्रेम करती थीं। दादी के आख़िरी क्षणों में मैं उनके पास थी। बीमारी की हालत में भी उनके चेहरे की आभा बनी हुई थी। वह बिस्तर पर लेटे हुए हमें निहार रही थीं। धीरे-से वह कुछ बोलीं। उनकी आवाज़ में विदाई का स्वर था। कहना मैं भी बहुत-कुछ चाहती थी, पर उनके करुणामयी चेहरे की आभा के आगे मैं जैसे निःशब्द हो गई थी। मुझे याद है वह साड़ी, जो दादी की मेरे लिए अमूल्य भेंट थी। उसे पाने की मुझे इतनी प्रसन्नता थी कि साड़ी को थामते वक़्त महसूस हुआ कि जैसे मैंने मोगरे के बिखरे हुए फूलों को एक साथ समेट लिया हो। अति सुंदर, सफेद खादी की डोरियों की साड़ी, जिसकी सुंदरता रंगीन कढ़ी हुई किनारी से उभर रही थी। 'यह साड़ी तेरे लिए है'—दादी ने कहा। उस उपहार को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुई थी।

आपमें लोग गांधी के आदर्शों को ढूंढते हैं?

गांधी सिर्फ़ मुझमें नहीं हैं। आपमें गांधी हैं, हम सबमें गांधी हैं। हर युवा के संघर्ष में गांधी हैं। गांधी सिर्फ़ खादी मात्र पहने कोई इंसान नहीं, बल्कि उनके आदर्शों को जीवन में उतारकर जीने वाले सभी लोग गांधी हैं। गांधी महज़ खादी

का लबादा ओढ़कर घूमने वालों में नहीं मिलेंगे, वह मिलेंगे आपके संघर्षों में। दरअसल, आज गांधी दर्शन को समझना जितना कठिन है, उतना ही इस देश को समझाना भी मुश्किल है। मेरी गली के पास कितना कचरा है? कचरा उठाने को कहो तो पड़ोसी कहते हैं कि इसलिए गंदगी साफ़ नहीं करते कि गांधीजी की पोती यहां रहती हैं और वह सादगी पसंद हैं। अब बताइए, गंदगी को सादगी कहते हैं। साफ़ करो तो कहते हैं कि आप बहुत वेस्टनाईज़ हो गई हैं।

हरिलाल दास को बापू ने विदेश पढ़ने नहीं भेजा। क्या यह बापू की एक तरह से हिंसा नहीं थी कि उन्होंने बेटे के विचारों पर अपनी सोच थोपी?

हरिलाल काका, बापू के बड़े बेटे थे। उन्हें बापू ने इसलिए रोका कि किसी भी परिवार में जब आदमी आदर्शवादी होता है तो सबसे बड़ी कीमत बड़ी संतान को ही चुकानी पड़ती है। इस लिहाज़ से बड़े बेटे को कुछ त्याग करना ही पड़ता है, जिसे हिंसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपने बेटे को रोका और अपने ही ख़ानदान से दूसरे लड़के को यह कहकर विदेश भेजा कि वह तुमसे ज़्यादा योग्य है, इसलिए उसे विदेश पढ़ने जाना चाहिए, आपको नहीं। ऐसा इसलिए था कि बापू का सबसे ज़्यादा जज़्बा उनके बड़े बेटे में ही था। हालांकि उन्होंने बहुत-से ऐसे काम किए, जोकि बापू के आदर्श मार्ग से अलग थे। ऐसी कोई बुराई नहीं थी, जो उनमें न हो। मगर फिर भी मैं कहूंगी कि वह बापू की प्रिय संतान थे और मैं भी उनके विरुद्ध कुछ सुनना पसंद नहीं करती। हालांकि मैं समझती हूं कि उनके विद्रोह के भी अपने कारण थे। पहली संतान होने के नाते उन्हें कुछ नहीं मिला, बल्कि उन्हें बहुत-कुछ सहना भी पड़ा था। इसके बावजूद वह आत्मिक तौर पर शुद्ध थे। यही वजह है कि जब बापू का दाह-संस्कार हो रहा था, तब वह मेरे घर आए। मैंने कहा कि काका, आपको तो दाहक्रिया में जाना चाहिए तो वह बोले कि मैं इसका हक़दार नहीं हूं, क्योंकि मैंने बापू की बात नहीं मानी।

आपकी नज़र में स्वराज क्या है?

बा के शब्दों में कहूं तो स्वराज का अर्थ है--'स्वयं पर नियंत्रण।' जब तक हम अधिकारों के साथ अपने कर्त्तव्यों को भी नहीं समझेंगे, तब तक हम स्वराज का अर्थ भी नहीं समझ सकते। वैसे भी लोकतंत्र में सरकार ज़िम्मेदारी नहीं ले सकती। लोकतंत्र में नागरिकों की जवाबदेही कहीं ज़्यादा है। आज ज़रूरत इस बात की है कि हम बच्चों में बापू के आदर्शों को स्थापित करें। उनमें श्रम की आदत डालें। अपने काम स्वयं करें, ख़ासकर लड़कों को तो नैतिक शिक्षा की ज़्यादा ज़रूरत है, क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि कुण्ठित बाल-मन ही युवावस्था में आतंकवाद की तरफ़ अग्रसर होता है। आज हमारे बच्चे उस आदर्शवादी शिक्षा से भी दूर हैं जिसमें उन्हें श्रम करना सिखाया जाता था। इसलिए उनकी शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। शिक्षा से ही सोच बदलेगी।

क्या वजह थी कि आज़ादी मिलने के बावजूद बापू उदास थे?

देश को आज़ादी मिलने के बाद गांधीजी बिड़ला हाउस, जो आज गांधी स्मृति संस्थान है, में बैठे हुए थे। बंटवारे से पहले के उत्साही बापू और आज़ादी के बाद के निराश गांधी। आज़ादी के बाद बापू को मैंने एक तरह के दुःख में देखा। उन्हें पाकिस्तान के अलग बनने का दुःख था, लेकिन उससे भी बड़ा दुःख यह था कि जो अहिंसक सर्वोदय की क्रांति वह लाना चाहते थे, वह नहीं आ पाई, क्योंकि वह आम जनता से लेकर राजनीतिज्ञों तक का लोभी स्वभाव समझ चुके थे। इस स्थिति से वह अंदर ही अंदर घुट रहे थे, जो कि मैंने महसूस किया।

अहिंसक क्रांति का मूक गवाह कौन था?

उस वक़्त मोबाइल, ई-मेल जैसी व्यवस्थाएं तो थीं नहीं। सरकार ने कुछ ख़ास अख़बारों पर भी प्रतिबंध लगा रखा था। क्रांतिकारियों पर भी सरकारी नुमाइंदों की निगाहें थीं। ऐसे हालात में वह लाल रंग का पोस्टकार्ड का डिब्बा, जो आज भुला दिया गया है, एक कोने में लटका अंतिम सांसें गिन रहा है। मगर उस समय की पूरी राजनीति और अहिंसक क्रांति का वह गवाह था। वह राज़दार था और उसी के माध्यम से संदेश एक जगह से दूसरी जगह भेजे जाते थे और एक-दूसरे की ख़बर रखी जाती थी।

स्वच्छ भारत की परिकल्पना आज स्वच्छ भारत अभियान के रूप में साकार हो रही है?

यह बहुत अच्छा काम है जो सरकार कर रही है। 1992 में अयोध्या के सांप्रदायिक दंगों के बाद मैं भी अयोध्या गई थी, यह देखने कि आख़िर मंदिर-मस्जिद का झगड़ा है क्या? इतनी गंदगी थी वहां की सड़कों पर कि मैं तो देख भी नहीं सकी। मैं ख़ुद अपनी साड़ी बचाते-बचाते चल रही थी। तब मुझे लगा कि वहां बंदूक नहीं, झाड़ू चाहिए। आज वही बातें सब कर रहे हैं। हालांकि यह मेरा अकेले का विचार नहीं है, लेकिन आज इस विचार को अपना लिया गया है और यह अच्छा संकेत है।

कस्तूरबा गांधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट का महिलाओं के लिए क्या योगदान है?

बापू ने किसी संस्था को अपना नाम नहीं दिया था। बा की मृत्यु के बाद उन्होंने सिर्फ़ कस्तूरबा गांधी ट्रस्ट को एक परिवार का नाम दिया। उन्होंने अपने या बा के लिए किसी संस्था या मंदिर-मस्जिद, मूर्ति बनाने की बात नहीं कही। हां, इतना कहा कि उन औरतों के लिए कुछ बने जो शिक्षित होते हुए भी निरक्षर और ग़रीब हैं। आज उन्हीं महिलाओं के लिए यह ट्रस्ट पूरे देश में काम कर रहा है। हालांकि यह संस्था पूरी तरह डोनेशन से चलती है। अब हमारा ध्येय यह है कि हम देहाती इलाकों तक जाएं और वहां की ज़रूरतमंद लड़कियों और बच्चों के लिए कुछ करें।

सरकार की तरफ़ से इस संस्था को कोई मदद मिलती है?

केंद्र और राज्य सरकार दोनों की मदद मिलती है, लेकिन इस मदद के लिए पीछे लगना पड़ता है। इसलिए मैं कहती हूं कि इस देश को ही गांधी संस्था बनाने की ज़रूरत है, जिसमें पूरा भारत योगदान करे और स्वच्छ, शिक्षित, स्वस्थ भारत का सपना साकार हो।

बापू की सायंकालीन प्रार्थना सभाएं किस तरह की होती थीं?

बापू की प्रार्थना सभाओं में भजन संध्या एक ख़ास कार्यक्रम होता था। बापू काम करते हुए भी भजन को ध्यान से सुनते थे। एक बार कंठकोकिला सुब्बुलक्ष्मी ने बापू की प्रार्थना सभा में भजन की प्रस्तुति दी। बापू के सामने जब पहली बार उन्होंने भजन गाने की इच्छा ज़ाहिर की, तो बापू ने कहा कि आप गाइए, मैं अपना लिखने का कार्य करते हुए आपका भजन सुनता रहूंगा। जब भजन शुरू हुआ तो उनकी मधुर आवाज़ के आगे बापू को भी अपनी कलम रखनी पड़ गई थी। फिर जब बापू उठे तो कहा कि समय हो रहा है, मैं फिर आपका भजन सुनूंगा, लेकिन आज आप ही प्रार्थना सभा चलाइए। इससे लगता है कि सौंदर्य की जो बारीकी होती है, वह उसे पकड़ने में माहिर थे।

जीवन के इस मोड़ पर आप ख़ुद को कहां पाती हैं?

मेरे जीवन पर बापू की अमिट छाप है। आज मैं उसी परमेश्वर की खोज में हूं जिसकी बात बापू करते थे। उन्होंने जिस सत्य की खोज में ईश्वर को तलाशा था, उसी ईश्वर को मैं भी खोज रही हूं। ❑

संपर्क : द्वारा सूरजप्रकाश मिश्र, लक्की अपार्टमेंट, वाई नंबर-3, निकट लुखी दास कुटिया, महरौली, दिल्ली-110030

लंदन में गांधी की आदमक़द मूर्ति

महेन्द्र राजा जैन

यद्यपि लंदन शहर के बीचोंबीच लंदन विश्वविद्यालय के पास टेविस्टाक स्क्वायर में महात्मा गांधी की मूर्ति पहले से ही है, इस वर्ष 14 मार्च को लंदन में ही ब्रिटिश संसद भवन के सामने पार्लियामेंट स्क्वायर में ब्रिटिश प्रधानमंत्री डेविड कैमरुन, गांधीजी के पोते गोपालकृष्ण गांधी, ब्रिटिश सांस्कृतिक मंत्री साजिद जावेद, अमिताभ बच्चन और गांधी स्टेच्यू मेमोरियल के न्यासी लार्ड और लेडी मेघनाथ देसाई की उपस्थिति में गांधीजी की आदमक़द मूर्ति का अनावरण भारतीय वित्त मंत्री अरुण जेटली द्वारा किए जाने से अब तक की वह 'परंपरा' एक प्रकार से टूटी है कि वहां इसके पूर्व जिन लोगों की मूर्तियां रखी गईं हैं, वे सभी किसी-न-किसी पद पर थे। पर गांधीजी एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने कभी किसी पद पर न रहते हुए भी अंतरराष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया। इस अवसर के लिए विशेष रूप से बनाए गए मंच पर चारों ओर ब्रिटिश और भारतीय राष्ट्रीय ध्वज फहरा रहे थे। भले ही कुछ लोगों ने वहां गांधीजी की मूर्ति रखे जाने का विरोध किया, यहां तक कि ब्रिटेन में रहने वाले कुछ लोगों के साथ ही गांधीजी के परपोते तुषार गांधी ने भी इसे 'अपव्यय' कहा, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर जैसे स्थान में गांधीजी की मूर्ति रखा जाना अपने-आप में भारत का बहुत बड़ा सम्मान है। यह इस बात का भी प्रतीक माना जाना चाहिए कि ब्रिटेन के लोगों और राजनेताओं में भारत के प्रति अब वह भावना नहीं रही जो अभी कुछ वर्ष पहले तक थी। जुलाई 2014 में भारत के साथ ब्रिटेन के पच्चीस करोड़ पौंड (एक पौंड = 100 रुपये) के सैन्य शस्त्रास्त्र समझौते के तुरंत बाद दिल्ली में ब्रिटेन के चांसलर (वित्त मंत्री) जार्ज ओस्बोर्न ने घोषणा की थी कि अब समय आ गया है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के नेता और दुनिया के सबसे बड़े जनतंत्र के पिता के रूप में मान्य महात्मा गांधी की एक विशाल मूर्ति लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर में रखी जाए।

आजकल यही सबसे बड़ी परेशानी है कि किसी भी बात का विरोध तो होना ही है। गूगल की कृपा से अब हम प्रायः सभी के विषय में इतना अधिक जानते हैं कि सभी स्मारक, सभी मूर्तियों—चाहे वे संगमरमर की हों या तांबे की या कंक्रीट की—के पैर मिट्टी के ही बने साबित होंगे। पहले ऐसी कोई बात नहीं थी। सभी राजा, रानियां, सम्राट, शहंशाह और सरकार अपने संभावित मित्र राष्ट्रों की चाटुकारी करने में किसी भी सीमा तक जा सकती थीं। आजकल तो सांस्कृतिक कूटनीति एक ऐसा बहुत ही महत्वपूर्ण अकादमिक विषय हो गया है कि उसकी अपनी पत्रिकाएं, जर्नल और वार्षिकी भी प्रकाशित होने लगी हैं। वार्षिक अधिवेशन और कान्फ्रेंस तो होती ही हैं, भले ही यह इतिहास का ही अंग है पर अभी भी प्रासंगिक है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

पूरी अठारहवीं सदी में एक के बाद एक अमरीकी शासकों ने चीन के सम्राटों को तरह-तरह के रत्न, पेंटिंग्स और घोड़े तक उपहार में देकर मसाले, सिल्क और कपड़ों के व्यापार पर एकाधिकार बनाए रखा। इसी प्रकार मिस्र में मुमुलकों ने दूसरे देशों को मसाले और कपड़े ही नहीं, वरन् हाथी, जिराफ़ गुलाम आदि उपहार देकर यही कुछ किया। वेनिस भी इस मामले में पीछे नहीं रहा। वहां के शासक जानते थे कि मुसलमान शासकों को पारमेसान चीज़ (पनीर) बहुत पसंद है। अतः उन्होंने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में 'चीज़' से ही प्रभाव जमाया क्योंकि उस समय मुसलमान शासक बहुत ही कम यात्रा पर निकलते थे।

पीटर पाल रूबस को आज हम भले ही नामी चित्रकार, कलाकार के रूप में ही जानते हैं, पर यह भी एक जानी-मानी बात है कि वह एक कुशल गुप्त राजनीतिज्ञ भी थे। गियोवानी बेलिनी भी अपने समय के प्रसिद्ध चित्रकार थे, रूबस से भी अच्छा चित्रकार—उन्हें इटली के शासक ने तुर्की के शासक को खुश करने के लिए इस्ताम्बूल भेज दिया था, क्योंकि उसके अपने चित्रकार बेलिनी की तुलना में कहीं नहीं ठहरते थे। बाद में तुर्की के शासक ने खुश होकर उन्हें तुर्की के सर्वोच्च सम्मान से नवाज़ा।



आदान-प्रदान के मामले में मुसलमान शासक भी कम नहीं थे। उन्होंने भी अपने राजनैतिक संबंध सुधारने के लिए अन्य देशों के तत्कालीन शासकों को उपहार दिए। इस प्रकार के राजनैतिक उपहारों के आदान-प्रदान की बातों से तो मुस्लिम साहित्य भरा पड़ा है, जिसे 'हदिया' कहा जाता है। 'हदिया' का अर्थ होता है किसी की कृपा दृष्टि प्राप्त करने के लिए किया गया प्रयत्न। वैसे तो पेंटिंग्स और अन्य दृश्यात्मक कलाकृतियां— रत्नाभूषण, फर्नीचर, चांदी के सामान आदि स्थायी महत्व की चीज़ स्वीकार्य होती हैं लेकिन संगीत एक अन्य कला माध्यम था जो क्षणजीवी प्रकृति के बावजूद अनिच्छुक संभावित मित्रों का हृदय पिघलाने के लिए एक बहुत ही कारगर उपाय माना जाता था। वैसे तो कुछ राजदूत अपने पूरे आर्केस्ट्रा के साथ अन्य देशों को गए, पर इस मामले में दाद देनी पड़ती है इटली के उस राजदूत को जो स्वयं संगीतज्ञ और स्वर लिपिकार था। 1894 में मोंते नोगिरो के शासक के लिए उपहारस्वरूप उसने एक पूरा ओपेरा ही लिख डाला था।

पर हमेशा ही ऐसा नहीं होता था। यद्यपि जापान पर कभी किसी अन्य देश का शासन नहीं रहा, पर डच ईस्ट इंडिया कंपनी के लोग अपने साथ जब जापान में धार्मिक कलाकृतियां लाए तो जापान के शासक उन्हें शुरू से ही संदेह की दृष्टि से देखते रहे। इसके लिए उन्होंने एक नया शब्द गढ़ा था

'ई-फूमी' जिसके अनुसार यदि किसी जापानी पर ईसाई धर्म परिवर्तन का शक होता था, तो उसे ईसाई धार्मिक कलाकृतियों, विशेषकर जीसस और मेरी के चित्रों, पर पैर रखने को बाध्य किया जाता था। इससे पता चलता है कि वे कितने विमुख प्रकृति के थे।

यह सब पहले भले ही आनंददायक रहा हो या जान पड़ता हो, पर क्या आजकल भी यह सब चलेगा? मुझे तो इसमें संदेह है। क्या आजकल पारमेसान चीज़ से किसी भी देश के शासक की तो बात ही क्या, किसी भी व्यक्ति को खुश किया जा सकता है? क्या आज इसे 'लग्ज़री' वस्तु माना जाएगा? आज दुनिया इतनी छोटी हो गई है, दुनियाभर के देशों की विशेषताओं के संबंध में हम इतना अधिक जानने लगे हैं कि दूसरे देशों की विलासितापूर्ण लग्जरी से कोई हमें प्रभावित नहीं कर सकता। लुइ वित्तन, कार्टियर, बरबेरी, लेक्सस, मांट ब्लांक, चौनल आदि नाम या इनसे संबंधित उत्पाद इतने सर्वव्यापक और हर किसी की पहुंच तक हो गए हैं कि हम भारतीयों के साथ ही चीनी, रूसी आदि को भी किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करते, विशेषकर इसलिए कि ये सभी चीज़ अब आसानी से सभी को सुलभ हैं।

शायद यही कारण है कि लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर में महात्मा गांधी की मूर्ति की बात भले ही ब्रिटिश शासन की सोची-समझी नीति रही हो, पर इसे कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। यह महात्मा गांधी को औरों से अलग एक विशेष व्यक्ति का महत्व नहीं देती, वरन् उन्हें इसी प्रकार के या कह अलग-अलग क्षेत्रों में उन्हीं के समतुल्य अलग-अलग देशों और अलग-अलग समय के कुछ अन्य लोगों के समकक्ष रखती है। पार्लियामेंट स्क्वायर में महात्मा गांधी की मूर्ति रखे जाने के बाद महात्मा गांधी एकमात्र भारतीय ही नहीं, वे एकमात्र ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्होंने कभी कोई पद नहीं लिया, बाकी सभी लोग प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति रहे हैं। महात्मा गांधी जितने भारतीय इतिहास के अंग हैं, उससे कम ब्रिटेन के इतिहास के अंग नहीं हैं। ब्रिटेन का आधुनिक इतिहास महात्मा गांधी के उल्लेख के बिना अधूरा ही रहेगा। जैसाकि पहले बतलाया गया है लंदन में ही टेविस्टाक स्क्वायर में महात्मा गांधी की एक मूर्ति पहले से ही है। यह मूर्ति मई 1968 में रखी गई थी और इसका अनावरण तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री हेरोल्ड विल्सन ने किया था। पालथी मारकर बैठे हुए महात्मा गांधी की यह मूर्ति पोलिश मूर्तिकार फ्रेदा बिलियट ने कुछ इस प्रकार बनाई है कि दर्शक श्रद्धांजलि के रूप में पालथी में फूल डाल सकें।

लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर में पहले से ही जो दस मूर्तियां हैं, उनमें चर्चिल, मार्गरेट थैचर आदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की प्रमुखता है, यह स्वाभाविक ही है। लायड जार्ज और नेल्सन मंडेला की मूर्तियां 2007 में रखी गई थीं। यहां यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि चर्चिल आजीवन गांधीजी के विरोधी रहे, यहां तक कि जब गांधीजी गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन गए थे, तो चर्चिल ने उनसे मिलने से इनकार कर दिया था। चर्चिल ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि जिस व्यक्ति का वे आजीवन विरोध करते रहे कभी उसी की मूर्ति लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर में स्वयं उनकी मूर्ति के पास ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के सहयोग से रखी जाएगी। महात्मा गांधी की मूर्ति रखे जाने के बाद अब वहां आने वाले पर्यटकों के साथ ही स्थानीय लोगों को भी एक ऐसे व्यक्ति के संबंध में पता चलेगा जिसने कभी केवल अहिंसा का सहारा लेकर ब्रिटिश सरकार की चूल हिला दी थीं।

चूंकि ब्रिटेन विश्व को स्वतंत्रता का साहित्य देने वाला माना जाता है (जान लाक, एडम स्मिथ, जेरेमी बेन्थैम, डेविड ह्यूम, एडम फर्ग्युसन, जान स्टुअर्ट मिल), अतः यदि यह स्थान 'मूर्ति शिल्प पार्क' या राजनैतिक स्वातंत्र्य

9 फुट ऊंची इस विशाल प्रतिमा को बनाने में अंतरराष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त शिल्पकार फिलिप जैक्सन ने त्रिआयामी कलाकृति में भावनाओं को दर्शाने के लिए चमत्कारिक कार्य किया है। मूर्ति इतनी सुंदर और प्रभावी है और गांधीजी की छवि को दर्शाने के लिए इस प्रकार बनी है कि और कुछ नहीं तो केवल इसी मूर्ति के शिल्प के कारण वे भविष्य में उसी प्रकार याद रखे जाएंगे जिस प्रकार रिचर्ड एटेनबरो अपनी अन्य फिल्मों की अपेक्षा 'गांधी' फिल्म के कारण।

का 'देवालय' बना दिया जाता है, तो इसमें कोई हानि नहीं है। इस स्क्वायर में अभी और भी कई मूर्तियां रखने की पर्याप्त जगह है। यदि वहां ऐसे अधिक से अधिक लोगों की मूर्तियां रखी जाएं जिन्होंने किसी भी क्षेत्र में एक उदाहरण के रूप में कार्य किया है, जिनका जीवन अपने-अपने क्षेत्र में अपना स्वयं उदाहरण रहा है, तो यह विश्व को प्रेरणादायक ही रहेगा। पर इस संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह याद रखने की है कि इस प्रकार की मूर्तियों के लिए दुनियाभर के किसी भी देश में लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर से अधिक उपयुक्त और कोई स्थान नहीं मिलेगा—यानी दुनियाभर की संसदों की 'मां' के सामने। यहां महात्मा गांधी की मूर्ति रखे जाने से आशा की जानी चाहिए कि भारत और ब्रिटेन के संबंधों में प्रगाढ़ता आएगी, पर इसके साथ ही हमें यह भी आशा करनी चाहिए कि स्वतंत्रता के लिए जान देने वालों को सम्मानित करने की लंबी ब्रिटिश शृंखला में यह नवीनतम कड़ी है। इस अवसर पर दिए अपने भाषण में ब्रिटिश प्रधानमंत्री डेविड कैमरुन ने ठीक ही कहा कि अन्य किसी की अपेक्षा गांधी ही एकमात्र व्यक्ति थे जिसने राजनैतिक दृष्टि से अकल्पनीय को राजनैतिक दृष्टि से अपरिहार्य बना दिया। इसी प्रकार अरुण जेटली का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि अन्य किसी की अपेक्षा गांधी ही वह एक मात्र व्यक्ति थे जिन्होंने विश्व के सबसे पुराने और सबसे बड़े दोनों लोकतंत्रों को गहराई से मूर्तरूप दिया।

9 फुट ऊंची इस विशाल प्रतिमा को बनाने में अंतरराष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त शिल्पकार फिलिप जैक्सन ने त्रिआयामी कलाकृति में भावनाओं को दर्शाने के लिए चामत्कारिक कार्य किया है। मूर्ति इतनी सुंदर और प्रभावी है और गांधीजी की छवि को दर्शाने के लिए इस प्रकार बनी है कि और कुछ नहीं तो केवल इसी मूर्ति के शिल्प के कारण वे भविष्य में उसी प्रकार याद रखे जाएंगे जिस प्रकार रिचर्ड एटेनबरो अपनी अन्य फिल्मों की अपेक्षा 'गांधी' फिल्म के कारण। लंदन के पार्लियामेंट स्क्वायर में गांधीजी की यह मूर्ति रखे जाने से अब तक की यह परंपरा भी टूटी है कि वहां पहले रखी गई मूर्तियों की अपेक्षा गांधीजी की मूर्ति का न्यासाधार काफी नीचा बनाया गया है ताकि सभी लोग बहुत पास से मूर्ति को देख सक।

लगभग छह लाख पौंड खर्च कर बनाई गई इस मूर्ति की इस परियोजना के लिए प्रवासी भारतीय उद्योगपति रामी रांगर ने एक लाख पौंड का दान दिया है। पहले ब्रिटिश सरकार ने भी इसके लिए काफी रकम देना स्वीकार किया था, पर बाद में कहा कि इसके लिए देश-विदेश में फैले गांधीजी के प्रशंसकों से ही धन प्राप्त करना चाहिए। इस परियोजना के लिए लंदन में गांधी मेमोरियल ट्रस्ट की स्थापना हुई है जिसके ट्रस्टियों में रामी रांगर के साथ ही लार्ड मेघनाथ देसाई और गांधीजी के पोते गोपालकृष्ण गांधी भी हैं।

❑

संपर्क : 8ए, बंद रोड, एलेनगंज, इलाहाबाद-299002 (उ.प्र.)

रामविलास शर्मा की कविताएं

ग्राम्य सादगी और युग-संघर्षों का ताप

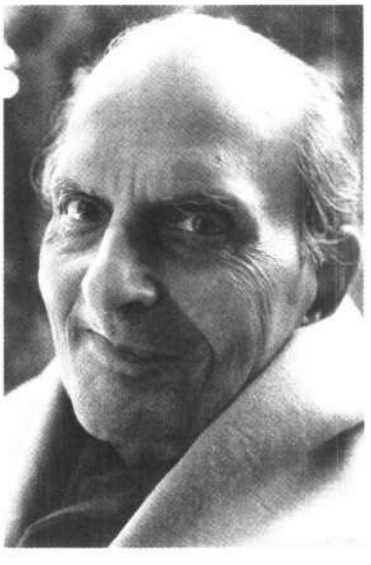
रामविलासजी का जीवन निरालामय था। वे बहुत समय तक निरालाजी के साथ ही रहे हैं और उनके जीवन के बहुत सारे उतार-चढ़ाव और सुख-दुख के वे साक्षी रहे, बता रहे हैं **प्रकाश मनु**

डॉ. रामविलास शर्मा के आलोचक रूप की चर्चा इतनी अधिक होती है कि उनके उस भारी-भरकम आलोचक के आगे उनकी कविताएं या कवि-रूप उपेक्षित-सा छूट जाता है, जबकि रामविलासजी की कविताएं एकदम अलग अंदाज़ की कविताएं हैं जो अपनी ग्राम्य सादगी और चुटीले तेवर के कारण ध्यान खीचती हैं। यों एक दौर था जब उनका कवि-रूप ही अधिक चर्चा में था पर तब तक रामविलासजी के आलोचना-कर्म की अधिक चर्चा नहीं हुई थी। रामविलासजी ने अपना पहला आलोचनात्मक लेख तब लिखा, जब उनके प्रिय कवि निराला पर अनेक द्वेषपूर्ण आक्रमण हो रहे थे। उन्होंने निराला की काव्य-शक्ति और काव्य-प्रतिभा की ओर पूरी दृढ़ता से साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित किया। पर जैसे-जैसे उनके आलोचक का विस्तार होता गया, उनका कवि-रूप पीछे छूटता चला गया और होते-होते उनका कविताएं लिखने का सिलसिला थम सा गया। रामविलासजी ने स्वयं माना है कि बैसवाड़ा का सुंदर प्राकृतिक परिवेश उनकी काव्य-रचना का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत था और जब वे उससे दूर चले आए तो मानो वह प्रेरणा ही सूख गई।

अपने पहले कविता-संग्रह 'रूपतरंग' की भूमिका में रामविलास ने किशोरावस्था के उस अनुभव का ज़िक्र किया है, जब कविता के आनंद को उन्होंने भीतर तक महसूस किया था। पहली बार उन्हें लगा था कि कविता कितनी सुंदर और मोहक हो सकती है और मन-प्राणों को आंदोलित कर सकती है—"लगभग अड़तीस वर्ष पहले शांतिप्रिय द्विवेदी द्वारा संकलित एक कविता-संग्रह मेरे हाथ लगा था। उन दिनों मैं झांसी में पढ़ता था। इंटरमीडिएट कक्षा के सहपाठी बालनारायण पढरकर के साथ नित्य काव्य-चर्चा होती रहती थी। पढरकर स्वयं मराठी के कवि हैं और बंगला कविता से मेरा पहला परिचय उन्हीं के द्वारा हुआ।...अंग्रेज़ी के कई कवियों के साथ-साथ उन्होंने अनेक मराठी कवियों की रचनाएं सुनाईं और ऐसा वातावरण तैयार किया कि मैथमैटिक्स में सब भूल गया और वे रचनाएं अब भी याद हैं। कविता मात्र से मेरा यह प्रथम परिचय था। इससे पहले कविता पढ़ी थी, लेकिन यह अनुमान न किया था कि वह इतनी सुंदर भी होगी और हृदय को इतना आंदोलित कर सकती है। तभी निराला की काव्य सरस्वती से मेरा परिचय हुआ और उस परिचय का आनंद एक अरुण आलोक बनकर सारे वातावरण पर छा गया। कहते हैं कि प्रथम प्रणय की याद कभी भुलाई नहीं जा सकती। निराला की कविता से उस प्रथम परिचय का आनंद भी मैं कभी नहीं भूला। साधारणीकरण द्वारा निराला की कविता मेरे लिए कविता मात्र बन गई।"

बाद में रामविलासजी जब लखनऊ पढ़ने गए तो वहां उन्हें महाप्राण निराला के साथ रहने का अवसर मिला। निरालाजी तो स्वयं ही साक्षात् कविता थे। उनके साथ रहते हुए रामविलास भी कविताएं लिखने लगे। उनकी बहुत-सी कविताएं निराला को भी प्रिय थीं और रामविलास शर्मा के एक गीत को तो उन्होंने मगन-मन होकर गाया भी था। इसी तरह पंतजी ने 'रूपाभ' में उनकी कई कविताएं छापीं। वे रामविलास शर्मा की कविताओं के प्रशंसक थे। रामविलासजी के कविता-संग्रह 'रूपतरंग' के नाम में भी कुछ न कुछ 'रूपाभ' की छाया अवश्य है। संग्रह की भूमिका में रामविलास शर्मा सप्रीति पंतजी का भी स्मरण करते हैं, "मेरे एक दूसरे प्रोत्साहनदाता सुमित्रानंदन पंत भी हैं। पंतजी ने 'रूपाभ' में मेरी बहुत-सी कविताएं ही नहीं छापीं, इस संग्रह को प्रकाशित करने के लिए उकसाया भी।"

हालांकि रामविलास शर्मा के कविता-संग्रह 'रूपतरंग' की बहुतेरी कविताएं बहुत पहले ही अज्ञेय द्वारा संपादित 'तारसप्तक' में आ चुकी थीं। 'तारसप्तक' में शामिल उनकी कविताओं का अंदाज़ बाकी सब कवियों से अलग है। उनमें ठेठ ग्राम्यत्व है और एक खांटी हिंदुस्तानी की गहन अनुभूति, राग-विराग, सच्चा क्रोध और बेबाक बयानी। कहना न होगा कि 'तारसप्तक' में संगृहीत रामविलासजी की कविताओं की खूब चर्चा रही है। इसलिए कि यहां बनावट बिलकुल नहीं है। साथ ही इनमें ग्राम्य सादगी के साथ-साथ देश की आज़ादी की लड़ाई के बड़े ही तीखे और असरदार अक्स हैं जिनसे उस समय का पूरा चित्र आंखों के आगे आता है, जब ये कविताएं लिखी गई थीं। फिर देश का वंचित वर्ग, मज़दूर-किसानों का कठिन जीवन और दिनचर्या, सभी के यहां इतने जीवंत और प्रामाणिक चित्र हैं कि लगता है, सप्तक के बाकी कवियों से जो परिवेश और फलक छूट-सा गया था, मानो रामविलास के यहां उसकी भरपाई होती है।



उन दिनों 'सुधा', 'माधुरी', 'हंस', 'रूपाभ', 'सरस्वती' में रामविलास शर्मा की कविताएं निरंतर छपती थीं और उन्हें काफ़ी पसंद किया जाता था। बाद में उन्होंने 'अगिया बैताल' और 'निरंजन' छद्म नामों से समकालीन राजनैतिक और सामाजिक संदर्भों पर ऐसी ज़ोरदार और तीखा कटाक्ष करती हुई कविताएं लिखीं, जिनकी पहुंच पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी ही नहीं, गांव-कस्बे के मामूली लोगों तक थी और रामविलास देखते ही देखते छा गए। उनकी इस दौर की कविताओं का संकलन 'सदियों के सोए जाग उठे' शीर्षक से छपा है।

'तारसप्तक' के वक्तव्य में रामविलास ने लिखा कि अगर गांव की प्रकृति परिवेश में काम करने का अवसर मिले, तो मैं दुगुना काम कर सकता हूं। बाद में भी जब उन्हें दिल्ली आना पड़ा, उन्होंने इस शहर को खुशी से स्वीकार नहीं किया और यही कहते रहे कि "बहुत से लेखक मुझसे मिलने

आते हैं। मैं उनसे कहता हूं कि दिल्ली रहने लायक शहर नहीं है। हो सके तो इससे कहीं दूर जाकर काम करना चाहिए।" वे आम दिल्ली वालों जैसे न दिल्ली के हुए और न इसे पसंद कर सके बल्कि जिस आगरा में रहे, उसमें बरसों बाद जाना हुआ, तो वे इस बात से परेशान हो उठे कि इतने वर्षों में उनका जाना-पहचाना आगरा कितना बदल गया है। रात के समय वहां चारों तरफ़ इतनी भीड़-भाड़, धुआं और अंधेरा था कि समझ नहीं पाए कि यह हो क्या गया? यह पूरा शहर किस कदर धुएं और अंधेरे में डूबा हुआ है। सड़कों की हालत पहले से खराब है और कहीं बिजली नहीं है। ऐसे में रामविलास को अपना गांव मोहता है। बरसों बाद वे अपना गांव देखने गए और बड़ी शिद्दत से उसका विवरण उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है। जब वे कोई चालीस बरस बाद अपने गांव पहुंचे, उस समय की उनकी खुशी का जवाब नहीं है। गांव से इस गहरे लगाव के कारण ही वे शहर में रहकर भी कभी पूरी तरह शहरी न हुए और न उसे पसंद कर सके। रामविलासजी की कविताएं गांव के सीधे-सरल लोगों और ग़रीब मेहनतकश लोगों के दर्द से व्याकुल कविताएं हैं। उनकी बहुत सादा लहजे में लिखी गई 'कार्यक्षेत्र' कविता बहुत प्रसिद्ध है जिसमें बड़ी आत्मिक दृढ़ता और सच्चाई है। इसमें एक किसान का चित्र है। किसान जो धरती का बेटा है। उसकी एक ही जाति, एक ही धर्म है कि वह धूल से भरा इस धरती का बेटा है जिसकी मेहनत से धरती पर जीवन लहलहाता है। रामविलासजी पूछते हैं–

धरती के पुत्र की/होगी कौन जाति, कौन मत, कहो कौन धर्म
धूलिभरा धरती का पुत्र है/जोतता है बोता जो किसान इस धरती को
मिट्टी का पुतला है/मिट्टी के चिर संसर्ग में....एकरस मटीलेपन में
छिपी है विभिन्नता, विचित्रता, विषमता विश्व की।

असल में 'कार्यक्षेत्र' कविता में रामविलासजी का गांव के सीधे-सादे किसानों के प्रति ममत्व जैसे बहता है। गो कि यहां भाव बहुत संयमित हैं, पर अभावों के बीच जाने वाले धूल-धूसरित किसान की बहुत जीवंत मूर्ति भी इन शब्दों से उभरती है। रामविलासजी ने स्वयं ज़िक्र किया है कि उन्हें यह देखकर बहुत दुख होता था कि शहरी मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं का ध्यान अकसर शहर के मज़दूरों पर ही रहता है और उन्हें वे संगठित करने की कोशिश करते हैं। पर गांव के किसान अकसर छूट जाते थे, जबकि दोनों मिला कर ही क्रांति का सपना पूरा कर सकते हैं। इसी भाव पर उन्होंने 'कार्यक्षेत्र' कविता लिखी।

प्रकृति को लेकर भी रामविलासजी ने बहुत कविताएं लिखीं। पर प्रकृति यहां जन-जीवन से अलग नहीं है। जीवन उसके साथ-साथ बहता और नए-नए रूपों में निखरता है। रामविलासजी बैसवाड़े पर कविता लिखते हैं तो उन्हें गंगा का स्मरण आता है, जिसने वहां के समूचे जीवन को आप्लावित कर दिया है–

एक घनी अमराई-सा यह /हृदय अवध का,
जहां सतत बहती है गंगा/कोयल और पपीहे के स्वर से मुखरित है।
चांदी-सी नम उर्वर धरती/सई, लोन नदियों के जल से भीज गई है।
खेतों में सनयी, गोहवा, सरसों की शोभा,/तालों में खिलती सुंदर कोकाबेली।

पर अंत आते-आते जैसे कविता करवट लेती है और जहां गंगा थी, वहां अब आज़ादी के तराने गाती आक्रोश भरी जनगंगा नज़र आने लगती है। एक साथ बढ़ते हज़ारों कदम मानो इस जनगंगा की अनगिनत ऊर्मियां हैं, "आज अवध के जन-गीतों में/सुन पड़ते हैं आज़ादी के नए तराने।/कोयल और पपीहा के स्वर में घुल-मिलकर/सुन पड़ती है दूर-दूर आवाज नई यह/ इनक़लाब की, आज़ादी की।/...आज़ादी की सरिता में कितनी भंवर हैं?/पर अदम्य अंतर्धारा-सी/ इस धरती पर बहती है पावन जनगंगा।"

इसी तरह वर्तमान के दुख और अभावों की छाया कहीं न कहीं मौन प्रकृति पर भी एक उदासी भरी छाप छोड़ती है। इसीलिए रामविलासजी 'चांदनी' पर लिखते हैं तो कविता में चांदनी का रोमानी वर्णन नहीं, बल्कि जीवन का वह यथार्थ सामने आता है, जिसे हर कोई महसूस करता है–

चांदी की झीनी चादर सी/फैली है वन पर चांदनी
चांदी का झूठा पानी है/यह माह-पूस की चांदनी
खेतों पर ओस भरा कुहरा/कुहरे पर भीगी चांदनी
आंखों में बादल से आंसू/हंसती है उन पर चांदनी।

'कतकी' कविता में किसानी जीवन का चित्र है जिसमें एक सहज आत्मीयता भी है जिसमें पूरा गांव पगा हुआ है। सर्दियों के दिन। आकाश में चौदस की चांदनी बिखरी हुई है। धरती पर भी उसकी प्रशांत शीतलता महसूस होती है। यहां तक कि बैल भी उस पारिवारिकता की सहज ऊष्मा को महसूस करते हैं और उसी से बंधे चलते चले जा रहे हैं–

तने हुए तंबू भीतर पैरा बिछा/सुखी बाल-बच्चे हैं बैठे ऊंघते,
गरम रज़ाई में निश्चिंत किसान भी/बैठा बैलों की पगही ढीली किए
घुंघरू की मीठी ध्वनि करते जा रहे/फटी-पुरानी झूल ओढ़े बैल वे,
पहचानते लीक हैं पहले भी गए/स्वप्न देखते धीरे-धीरे जा रहे...

गांव के परिवेश पर ही रामविलासजी ने 'शारदीया' कविता लिखी है। इसमें गांव में सर्दी के दिनों का वर्णन है। ज्वार की फ़सल हुई तो किसान की लड़की हाथ में गुफना लिए चिड़ियों को उड़ा रही है, ताकि वे दाने न खा जाएं। कविता में प्रकृति का बड़ा ही सुंदर दृश्यांकन है–

सोना ही सोना छाया आकाश में/पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसे ताया हुआ/भरे ज्वार के भुट्टे पककर झुक गए।

अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' में रामविलासजी ने बहुत विस्तार से अपनी कविताओं की पृष्ठभूमि और उन भावनात्मक दबावों के बारे में लिखा है, जो उन्हें कविता लिखने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी कई कविताएं ग्रामीण परिवेश और गांव के लोगों के दुख-दर्द को लेकर लिखी गई हैं। इनमें 'दिवास्वप्न' कविता ख़ासी महत्त्वपूर्ण है। कविता में जाने-अनजाने उनके निजी जीवन के अक्स भी उतर आए हैं। एक ओर गांव की रम्य प्रकृति है तो दूसरी ओर रामविलासजी की उस समय की उदास मनःस्थिति, जब वे लखनऊ में शोध कर रहे थे। असल में उनके गांव में खजुरिहा तालाब था। वहां आसपास झाड़ियां थीं और दूर तक पेड़ों की कतार। इसलिए दिन में भी वहां सन्नाटा रहता था। मधुमक्खियों की झन-झन और झींगुरों का झंकार सुनाई देता था। दोपहर में वहां कोई आता-जाता न था। लगता था, मानो सारा का सारा वातावरण निस्तब्ध-सा ऊंघ रहा हो। रामविलासजी की 'दिवास्वप्न' कविता में वह जैसे उतर आया है। कविता की शुरुआती पंक्तियां हैं–

वर्षा से धुलकर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-भरे खेतों पर छाया आसमान,
उजरी कुंआर की धूप अकेली पड़ी हार में
लौटे इस वेला सब अपने घर किसान।
पागुर करती छाहीं में, कुछ गंभीर अधखुली आंखें
बैठी गाय करती विचार,
सूनेपन का मधुगीत आम की डाली में,
गाती जातीं मिलकर ममाखियां लगातार।

हालांकि उस समय रामविलासजी के मन में कुछ निराशा थी। जीवन में अनिश्चितता थी। शोध के बाद क्या होगा, यह सोचकर चिंतित रहते थे। लिहाज़ा वर्षा से निखर उठे नीले-नीले आसमान और हरे-हरे खेतों के सौंदर्य

के साथ ही अचानक फीके, निरानंद वर्तमान का चित्र आंखों के आगे आता है और वे उदास हो जाते हैं, "भूल अतीत का स्वप्न जागता, मिट जाता/ संकुचित एक पल-सा हो फीका वर्तमान।/देखतीं उसे ही भर आतीं आंख फिर पलक/...गरजता अनागत का अगाध फिर अंधकार।"

ग्राम्य परिवेश को लेकर लिखी गई रामविलास शर्मा की 'सिलहार' और 'ऋतुसंहार' कविताओं में गांव की विडंबनाओं के चित्र हैं। इनमें 'सिलहार' में ग़रीबी की विवशता है। रामविलासजी ने देखा कि जब खेतों से अनाज खलिहान में आता है तो बाद में ग़रीब लोग इधर-उधर बिखरे अन्न के कण यानी सीला चुनते हैं। 'सिलहार' में अभावों का यही दुख, यही करुणा मार्मिक ढंग से उभरी है। 'ऋतुसंहार' कविता भी गांव के एक दुखद दृश्य से जुड़ी है। हुआ यह कि रामविलास शर्मा कालिदास का काव्य 'कुमारसंभवम्' पढ़ रहे थे। तभी अचानक गांव में शोर-सा सुनाई दिया। पता चला कि भीषण आग लग गई है। उस अग्निकांड की लपटों ने जैसे पूरे गांव को जद में ले लिया। लोग आपस के भेदभाव और ऊंच-नीच सब कुछ भूल उसे बुझाने में लग गए। इतना पानी बालटियों में भर-भरकर डाला गया कि कुएं ख़ाली हो गए। जो जिससे बन पड़ा, वह कर रहा था। इसके बाद भी आधा गांव जल गया। खेतों की फ़सल स्वाहा हो गई। लोगों के घर राख में बदल गए और देखते ही देखते सब कुछ खत्म हो गया। कालिदास ने 'कुमारसंभव' में सौंदर्य का जो चित्रण किया, उससे यह दृश्य एकदम उलट था। यथार्थ और कल्पना के इसी भेद को प्रकट करते हुए रामविलासजी ने 'ऋतुसंहार' कविता लिखी।

इसी तरह स्त्री को लेकर लिखी गई कविताओं में उसके जीवन भर के तप और दुख-दाह को लेकर बड़ी सहानुभूति है। पांचवें दशक में लिखी गई कविता 'यज्ञ-प्रतिमा' में निरंतर बाट जोहती स्त्री का बड़ा भावपूर्ण चित्र है, जिसकी आंख बटोही की राह देखते हुए पथरा गई हैं—

तरु-पातों से बिछल रही थी जब संध्या की लाली,
धीरे-धीरे हुई डगर भी पथिकों से जब ख़ाली।
उठा छान से धुआं, कुंडली खोले फन-सा छाया,
डसा हुआ-सा गांव न जैसे मूर्च्छा से उठ पाया।
पथराई-सी दो आंखों ने बाट तुम्हारी जोही,
फिर भी लौटा नहीं भोर का भूला हुआ बटोही।

भले ही यह स्त्री प्रतीक्षा की उदास घड़ियों में जड़ प्रतिमा-सी क्यों न हो गई हो, पर न जीवन उसके बिना पूरा होता है और न यज्ञ। यज्ञ पूरा करने के लिए सीता जी की स्वर्ण प्रतिमा निर्मित करने का पौराणिक संदर्भ भी अनायास इन पंक्तियों में उभर आया है, "वनवासिनि! मख में जड़-सी क्यों बनी स्वर्ण प्रतिमा हो,/तुम्हीं सुहागिन, मुखर काव्य में वाणी की महिमा हो।"

रामविलासजी की 'वंदिनी कोकिला' कविता में भी एक स्त्री की विवशता का चित्रण है। उसका विवाह किसी एक से हुआ है और वह प्रेम किसी दूसरे से करती है। विवाह के बाद भी प्रेमी से मिलती है, तो वह अपने मन का यह भाव जता जरूर देती है कि उस प्रेम को वह भूली नहीं है। हालांकि अब वह किसी और की हो चुकी है, "श्यामल धरती जैसी फैली हैं बरौनियां/पुरवाई पर उड़ते मेघों से हैं कुंतल/यह संगीत-नृत्य की देवी/देख मित्र को सहसा घर में/एक ओर तन शिथिल ढालकर/एक साथ ही किया लाज-आसक्ति प्रदर्शन/मन में है यह चाह/यहां से दूर कहीं पर/ताल वृक्ष के नीचे गाए/...किंतु पंख फड़फड़ाकर पिंजरे के भीतर ही रह जाती है।" कविता का अंत एक क्षीण सी आशा के साथ होता है—

वह दिन भी आएगा जब/ सोने का पिंजरा टूट जाएगा।
तीली-तीली बिखर जाएगी
लेकिन तब भी क्या यों ही श्यामल धरती सी
फैली होंगी ये बरौनियां,
और घने कजरारे कुंतल/पुरवाई पर मेघों जैसे उड़ते होंगे?

'कैमासन', 'कलकत्ता' और 'समुद्र के किनारे' सरीखी कविताओं में रामविलासजी के निजी जीवन और यात्राओं से जुड़ी याद हैं। 'कैमासन' में झांसी से जुड़ी स्मृतियां हैं। बचपन में रामविलास पढ़ने के लिए झांसी आ गए तो सदर में रहा करते थे। वे कभी-कभी कैमासन पहाड़ी पर झांसी का किला देखने जाया करते थे और खुद भी पहाड़ी पर चढ़ने का अभ्यास करते थे। किले से तोप छूटती थीं तो रामविलास कल्पना करते कि यहीं झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने अपनी तलवार चमकाते हुए अंग्रेज़ों को मुंहतोड़ जवाब दिया होगा। कविता में उसी की याद हैं। इसी तरह 'कलकत्ता' कविता में कलकत्ते की स्मृतियां हैं तो 'समुद्र के किनारे' में दादर के समुद्र की। रामविलास शर्मा कलकत्ता गए तो उन्होंने वहां का जीवन देखा। रात को सोते हुए आसमान में उजला चांद दिखाई दिया, जो धीरे-धीरे बादलों की ओर बढ़ रहा था। नीचे वातावरण मैला और कोलाहल से भरा था। रामविलासजी कल्पना करते हैं, मानो चांद इस सारे दारिद्र्य भरे वातावरण से दूर जा रहा हो। 'कलकत्ता' कविता में यह उद्वेलन बहुत प्रभावी ढंग से आया है। 'समुद्र के किनारे' में समुद्र जैसे चेतना में उतरकर उसे लहर-लहर कर देता है। रामविलासजी मुंबई गए थे तो दादर का समुद्र देखकर विभोर हो गए। वह समुद्र नहीं, विराटता का एक भव्य अहसास था। कविता में सागर का उदात्त सौंदर्य छल-छल कर रहा है—

सागर लंबी सांस भरता है/सिर धुनती है लहर-लहर,
बूंदी-बादर में एक वही स्वर/गूंज रहा है हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर/यह टकराती है कहां लहर,
जिस ठौर हृदय में जलती है/वह याद तुम्हारी आठ पहर।
बस एक नखत ही चमक रहा है/अब भी काली लहरों पर,
जिसको न अभी तक ढक पाए/ सावन के बूंदी-बादर।

'केरल : एक दृश्य' भी बड़ी सुंदर कविता है, जिसमें रामविलासजी की केरल यात्रा की सुखद स्मृतियां हैं। रामविलासजी केरल गए तो वहां की घनी हरियाली और प्रकृति की सुंदरता ने उन्हें मोह लिया। लगा, उनके चारों ओर हरियाली का एक झरना-सा उमग रहा है—

एक घनी हरियाली का-सा सागर
उमड़ पड़ा है केरल की धरती पर,
तरु पातों में खोए से हैं निर्झर
सुन पड़ता है केवल उनका मृदु स्वर।
इस सागर पर उतरा वर्षा का दल
पर्वत शिखरों पर अंधियारे बादल।
हरियाली से घनी नीलिमा मिलकर
सिंधु-राग-सी छाई है केरल पर।

'हड्डियों का ताप' उदास कविता है, जिसके साथ रामविलासजी की आत्मकथा का एक दुखद पन्ना भी जुड़ा हुआ है। उस समय वे बीमार थे और बुख़ार उतरता न था। मित्रों ने कहा कि टी.बी. हो सकती है। इससे उनका मन दुखी था। उधर मन में देश के लिए कुछ करने का जज़्बा था। मन की इसी कशमकश को लेकर उन्होंने 'हड्डियों का ताप' कविता लिखी जिसमें देश की परतंत्रता की गहरी पीड़ा भी है। हालांकि कविता का अंत एक आशा भरे संदेश के साथ होता है—

जन्म होगा हड्डियों के ढांचों से/रक्ताभ मांसल शरीर का
हड्डियों में बसे हुए ताप से/चिरंतन आत्मा का

जन्म होगा नरकंकालों से/सबल स्वतंत्र नवयुवकों की सेना का।

'खजुराहो' कविता भी एकदम अलग ढंग की है। उसमें खजुराहो के अक्स हैं, साथ ही अतीत और वर्तमान का व्यंग्य भरा विपर्यय भी। कविता के साथ एक ख़ास संदर्भ भी जुड़ा है। रामविलासजी के भाई नौगांवां में नायब तहसीलदार थे। उन्होंने उन्हें खजुराहो देखने के लिए बुलाया। गांव में नायब तहसीलदार बहुत बड़ा पद समझा जाता है। लिहाज़ा उनके आने पर गांव की स्त्रियों ने जूते उतार दिए और एक ओर खड़ी हो गईं। रामविलासजी अतीत की स्त्रियों से वर्तमान को जोड़ते हैं तो उन्हें यह व्यंग्य-वैचित्र्य भरा लगता है। 'खजुराहो' कविता में अतीत और वर्तमान के इसी विरोधाभास की तीखी व्यंजना है।

इसी तरह 'कलियुग' कविता में नए और पुराने का द्वंद्व है। बहुत से लोग पुराने ज़माने में जीते हैं और नया जो कुछ भी है, उसे बुरा बताते हैं। पुराणों में भी कलियुग की बड़ी निंदा की गई है। पर रामविलासजी बहुत अलग ढंग से इस बारे में सोचते हैं। वे नए ज़माने की नई प्रगति के बारे में सोचते हैं जिसने मनुष्य का जीवन आमूलचूल बदल दिया। उनका मानना है कि इस युग में पैसे या मुद्रा का चलन हुआ और इनसान ने बहुत तरक्की की। इस लिहाज़ से कलियुग पतन का नहीं, विकास का काल है। 'कलियुग' में रामविलासजी पुरानी मान्यता को खंडित करते हुए मानो नए समय की यह उदार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं–

सतयुग त्रेता फिर द्वापर औ कलियुग/अंतिम हमारा युग,
निंदित पुराणों में, शास्त्रों में, काव्यों में
अवांछित आदियुग से यह अधम युग
...
विशाल सक्रियता/यही है हमारा युग
विषाक्त जलधि के हृदय में
फूटकर धीरे-धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह
खिलेगा जो एक दिन काले जलतल पर
नव अरुणाभा में नव सतयुग के प्रकाश में।

रामविलासजी का जीवन निरालामय था। वे बहुत समय तक निराला जी के साथ ही रहे और उनके जीवन के बहुत सारे उतार-चढ़ाव और सुख-दुख के वे साक्षी रहे। तो फिर निराला भला उनकी कविताओं में कैसे न आते? निराला पर 'कवि' शीर्षक से उन्होंने बड़ी मार्मिक कविता लिखी। वे निराला को देखने गए थे। निराला उन दिनों अस्वस्थ थे, देखकर रामविलास का हृदय जैसे रो उठा। जो किसी गजराज की तरह सीना तानकर चलता था, उसकी आज यह हालत? उन्होंने बहुत उदास और विषण्ण मन से लिखा–

वह सहज विलंबित मंथर गति जिस को निहार
गजराज लाज से राह छोड़ दे एक बार,
काले लहराते बाल, देव-सा तन विशाल
आर्यों का गर्वोन्नत प्रशस्त अविनीत भाल
झंकृत करती थी जिसकी वाणी में अमोल
शारदा सरस वीणा के सार्थक सधे बोल
कुछ काम न आया वह कवित्व आर्यत्व आज
संध्या की वेला शिथिल हो गए सभी साज
पथ में अब वन्य जंतुओं का रोदन कराल,
एकाकीपन के साथी हैं केवल शृगाल।

हालांकि संतोष बस इस बात का है कि निराला जैसे बड़े कवि ने जो

रामविलासजी ने स्वयं माना है कि प्रारंभ में उनकी कविताओं में भाषा आलंकारिक ज्यादा होती थी पर बाद में उन्होंने अपनी कविताओं में बहुत सादा भाषा में गांव की प्रकृति और सुंदरता के चित्र उपस्थित किए। उनकी ये कविताएं पहले की आलंकारिक कविताओं से अलग और कहीं अधिक प्रभावी हैं।

पैरों के निशान छोड़े, उस पर चलने के लिए नौजवानों की एक पूरी पीढ़ी तैयार हो चुकी है–

कट गई डगर जीवन की, थोड़ी रही और,
इस वन में कुशकंटक, सोने को नहीं ठौर,
क्षत चरण न विचलित हों, मुंह से निकले न आह,
थककर मत गिर पड़ना ओ साथी बीच राह
यह कहे न कोई जीर्ण हो गया जब शरीर,
विचलित हो गया हृदय भी पीड़ा से अधीर
पथ में उन अमिट रक्त चिह्नों की रहे शान,
मर मिटने को आते हैं पीछे नौजवान
इस वन में जहां अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
निर्मित होगी जन-सत्ता की नगरी विशाल।

'डलमऊ में गंगा' और 'अर्चना' कविताओं में भी निराला के दुखों की छाया है। डलमऊ में गंगा का रचना-काल है सन् 1947। उन दिनों रामविलासजी निराला को देखने डलमऊ गए तो उस समय की उनकी विपन्न हालत और वहां सिकुड़ती हुई गंगा को देखकर उनका मन बहुत दुखी हुआ। फिर उन्हें याद आया कि निराला के 'प्रभावती' उपन्यास में दूर-दूर तक फैले गंगातट और लहरों का कितना सुंदर वर्णन है जबकि वही गंगा आज मानो विपन्न और छविहीन-सी है। उन्हें लगा, निराला और गंगा दोनों ही जैसे ज़माने की मार से टूट चुके हैं। 'डलमऊ में गंगा' कविता में रामविलासजी का यह दुख मानो रुक-रुककर बहता-सा है–

बालू-सी जलती दुपहर में/बहती है गंगा विरल तीन धाराओं में
यह मौन खड़ा है दुर्ग-स्तूप
धरती की परतों के नीचे,
हैं शताब्दियों से मग्न
ध्वस्त भग्नावशेष,
सामंती युग के वैभव के।
कटती जाती है अविश्रांत जलधारा से
धरती के भीतर इन ढूहों की अगम नींव
डलमऊ नगर
धरती की परतों में धंसता ही चला गया है,
ऋद्धि-सिद्धियां सोती हों मानो समाधि में, साथ सभी।

कोई पांच बरस बाद लिखी गई 'अर्चना' कविता में निराला के दुख और विपन्नता का चित्रण है तो उनकी शक्ति का भी। निराला जब बहुत अस्वस्थ थे, उन्हीं दिनों उनका गीत-संग्रह 'अर्चना' आया। रामविलासजी उनसे मिलने गए तो निराला ने उन्हें वह संग्रह भेंट किया। देखकर रामविलासजी के मन में एक अभिमान का-सा भाव आया कि इतनी बुरी तरह टूटे होने के बावजूद निराला कितने शक्तिमय हैं। कविता में अपराजेय निराला की ऐसी छवि है, जो शरीर की दुर्बलता के बावजूद टूटा नहीं है, मन-प्राणों से अजेय है, क्योंकि

वह अपनी जनता का सच्चा कवि है–

यह कवि अपराजेय निराला / जिसको मिला गरल का प्याला।
ढहा और तन टूट गया है/ पर जिसका माथा न झुका है।
नीली नस खिंची हैं कैसी/ मानचित्र में नदियों जैसी।
शिथिल त्वचा, ढल-ढल है छाती/ लेकिन अभी संभाले थाती।
और उठाए विजय-पताका/ यह कवि है अपनी जनता का।

इसी तरह रामविलास अपनी कश्मीर यात्रा में पीर पंजाल देखने गए तो उसकी अनुपम सुंदरता से मुग्ध हो उठे। 'पीर पंजाल' में वहां के अद्भुत प्रकृति सौंदर्य का दृश्यांकन है। 'लाला के दिल का दाग़ और भी गहरा है' कविता उन्होंने महाकवि महजूर पर लिखी थी। उनके बारे में उन्होंने मित्रों से सुना था कि महजूर कितने बड़े कवि हैं और उनकी कविताओं में मानो पूरा कश्मीर बोल उठता है। रामविलास महजूर से मिलना चाहते थे, पर उन्हीं दिनों उनके निधन की ख़बर मिली। महजूर पर कविता लिखते हुए उन्होंने महजूर की कविताओं को सुंदर सतरों और बिंबों को याद करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि दी है।

गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर और महाकवि सुब्रह्मण्य भारती पर भी रामविलासजी ने बड़ी भावपूर्ण कविताएं लिखी हैं। सुब्रह्मण्य भारती के निधन के बाद वे उनके गांव गए, तो कवि-पत्नी और उनकी बेटियों ने मिलकर भारती के गीतों को गाया। इससे अभिभूत होकर रामविलासजी ने कविता लिखी, 'मातृतीर्थ'। गुरुदेव पर लिखी कविता 'गुरुदेव की पुण्यभूमि' कवि के भावाकुल अंतस की एक झलक है–

यह शस्यश्यामला वसुंधरा है जिसे देखकर
कवि ने मन में स्वर्ग रचा था सुंदर
यह पुण्यभूमि है जिसे देखकर
आंदोलित हो उठता था कवि का भावाकुल अंतर
वे भरे धान के खेत यहीं थे जिन्हें देखकर
सांझ-सवेरे फूटे थे कवि के स्वर।

रामविलासजी की अनेक कविताओं में देश की परतंत्रता की पीड़ा और क्षोभ है। उन्होंने अंग्रेज़ों के अत्याचारों और दुष्टता को याद करते हुए लिखा, 'भीतर से इतने काले हैं, फिर भी कहते हम गोरे हैं।' झांसी की रानी ने अंग्रेज़ अधिकारियों को जवाब दिया था, 'मेरा झांसी दगा नहीं!' और उन्होंने अपनी जान दे दी। बाद में झांसी और कई अन्य शहरों के क्रांतिकारियों पर मेरठ में मुकदमा चल रहा था। 'विप्लव रागिनियां' कविता में रामविलासजी के भीतर की इसी भावनात्मक उमड़न-घुमड़न का चित्र है। इसी तरह सन् 1947 में लिखी गई 'आज़ाद पताका' कविता में लंबी लड़ाई और असंख्य बलिदानों के बाद मिली आज़ादी का अभिनंदन है–

ऊपर नीर भरे बादल हैं, नीचे है आज़ाद पताका,
एक नए पौधे सी उगती, उड़ती है आज़ाद पताका
पुरवाई के पंख लगाए ये बादल जो उड़ते आए,
जनसागर की देख हिलोर, क्या अपने मन में शरमाए?
सागर की लहरों के सम पर लहराई आज़ाद पताका।
जंग लगी पिंजड़े की सीख, जिस पंछी को रोक न पाई,
सौ-सौ जाल बिछाने पर भी पंखों की गति रोक न पाई,
मुक्त हुए पंछी के स्वर सी उड़ती है आज़ाद पताका।

पर देश आज़ाद हुआ तो साथ ही देशवासियों को विभाजन का दंश और भीषण रक्तपात भी झेलना पड़ा। पंजाब के उस खून-ख़राबे ने स्वतंत्रता के नव विहान पर काली परछाइयां डाल दीं। रामविलासजी ने बहुत दुखी और विकल होकर लिखा–

आज पंचनद की धरती पर धधक रही है ज्वाला,
विजय-चिह्न-सी पड़ी गले खूनी लपटों की माला।
देशभक्ति की चिता जल उठी, राख हुई मानवता,
गर्म खून की आहुति देने बैठी है बर्बरता।
गोली खाकर मरे यहां पर आग बुझाने वाले,
बुझा रहे हैं प्यास खून की जनता के रखवाले।
डायर की संतान! खूब रक्षा का भार संभाला,
आज पंचनद की धरती पर धधक रही है ज्वाला।
लपटों की छाया में रो-रोकर बहती है रावी,
'आज़ादी की कसम यहीं खाई!' कहती है रावी।
कहती है सतलज चिनाब से, क्या फिर डायर आया?
भगतसिंह के शव को फिर से किसने यहां जलाया?
गरम खून से तर होकर रोता है जलियांवाला,
आज पंचनद की धरती पर धधक रही है ज्वाला।

हालांकि रामविलासजी के काव्य-संसार में विविधता बहुत है। एक दौर था, जब उन्होंने प्रेम और शृंगार की कविताएं भी लिखी थीं और वे भी पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं। उनकी ऐसी ही एक रागात्मक कविता की एक पंक्ति है, 'रक्ताभ तुम्हारे अंगों में फूटा गुलाब'। यह कविता 'भारत' में छपी थी। इसी तरह एक और कविता की तर्ज़ कुछ यों थी—यौवन मदमाती रूपराशि/ओ खोल द्वार/बस एक बार।

इसी समय पौराणिक संदर्भों को आधार बनाकर रामविलासजी ने एक बिलकुल भिन्न तरह की कविता 'मेनका' लिखी, जो 'माधुरी' में छपी। छंदों को लेकर भी रामविलासजी ने कई प्रयोग किए। 'बुद्ध वैराग्य' में उन्होंने कवित्त के छंद का ही एकदम अलग ढंग से प्रयोग करके लंबी कविता लिखी। रामविलासजी के कविता-संग्रह 'मेरी प्रारंभिक रचनाएं' में उनकी ऐसी बहुत-सी कविताएं शामिल हैं, जिनसे उनकी काव्य-यात्रा को समझने में मदद मिलती है।

रामविलासजी ने स्वयं माना है कि प्रारंभ में उनकी कविताओं में भाषा आलंकारिक ज्यादा होती थी पर बाद में उन्होंने अपनी कविताओं में बहुत सादा भाषा में गांव की प्रकृति और सुंदरता के चित्र उपस्थित किए। उनकी ये कविताएं पहले की आलंकारिक कविताओं से अलग और कहीं अधिक प्रभावी हैं। उनकी ऐसी ही एक कविता की सहज रूप से मन में उतर जाने वाली पंक्तियां हैं–

डूबा दिन, फीका आसमान/ठंडा-सा धुंधला सुनसान
छाया है नीचे खेतों पर...

स्वाभाविक रूप से निराला ने रामविलासजी की इन कविताओं को देखा तो तारीफ़ करते हुए कहा, "तुम्हारी ये कविताएं कहीं अधिक प्रौढ़ रचनाएं हैं।"

ऐतिहासिक संदर्भों को लेकर लिखी गई रामविलासजी की कविताएं भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। दारा शिकोह पर लिखी गई उनकी कविता में दारा शिकोह के दर्द और अपमान से व्याकुल जन-समूह की भावनाएं शब्द-शब्द में समाई हुई लगती हैं–

दिल्ली में उमड़ आया क्षुब्ध जन पारावार,
राहुग्रस्त चंद्र को भी देखकर उठा ज्वार
दीन मदहीन एक हाथी पर राज्यहीन
शहंशाह भारत का दारा शुको था सवार
छत्रहीन शीश पर आग-सा दुस्सह घाम
पीठ पर मौत-सा औरंगज़ेब का गुलाम,

रामविलासजी द्वारा किए गए कविताओं के अनुवाद बड़े ही सहज हैं। एकदम मूल कविता की तरह सहजता से मन में पैठने वाले। फिर चाहे बांग्ला कविताओं का अनुवाद उन्होंने किया हो या फिर बल्गारियाई कविताओं का। उन्हें पढ़ना सचमुच एक अलग और आनंदकारी अनुभव है।

चारों ओर त्रस्त जन, पारावार निस्सहाय
रुद्ध जनकंठ में था अस्फुट-सा रामनाम।

इसी तरह उन्होंने अपनी कविताओं में लोकगीतों की लय और लोकध्वनियों का अधिक से अधिक इस्तेमाल किया। एक कविता में भारत की जनता की भावना को प्रकट करते हुए लिखा–

हाथी घोड़ा पालकी/जै कन्हैयालाल की
हिंदू हिंदुस्तान की/जै हिटलर भगवान की
जिन्ना, पाकिस्तान की/टोजो और जापान की
बोलो वंदे मातरम/सत्यं शिवं सुंदरम...

रामविलासजी की कविताएं बहुत सजग और सचेत कविताएं हैं, जो पूरी निर्भयता से अपनी बात कहना जानती हैं। हिंदी का विरोध करने वालों की भी उन्होंने ख़बर ली। फ़िराक हिंदी का मज़ाक उड़ाते थे और उर्दू के कसीदे करते थे। उन्होंने उर्दू काव्य की ख़ासियत बताते हुए लेख लिखा, जिसका शीर्षक था, 'सदाबहार, सदासुहाग'। इसमें हिंदी और हिंदी के लेखकों को लेकर फब्तियां थीं। इस तरह तात्कालिक स्थितियों पर भी एक से एक प्रभावशाली कविताएं लिखकर रामविलासजी ने साबित कर दिया कि जनता का कवि जनता के ज्यादा से ज्यादा नज़दीक रहकर ही अपनी कविताओं को अधिक जीवंत बना सकता है। रामविलासजी में आगे बढ़कर चुनौतियों को स्वीकार करने का भाव हर समय रहा। उनकी बहुतेरी कविताओं और काव्यानुवाद में भी यह देखने को मिलता है। एक प्रसंग का ज़िक्र तो उन्होंने अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती, अपने लोग' में भी किया है। हुआ यह कि निराला विवेकानंद की कविता 'संन्यासी का गीत' का पद्यानुवाद कर रहे थे और उन्हें काफ़ी कठिनाई आ रही थी। उन्होंने रामविलासजी से कहा, "लगता है, हिंदी में इसका अनुवाद संभव ही नहीं है।" रामविलासजी ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए कहा, "हिंदी में इसका अनुवाद हो सकता है।" और वाकई उन्होंने बड़े सुंदर और प्रभावशाली ढंग से इसका पद्यानुवाद कर दिखाया।

इसी तरह नज़रुल इस्लाम की 'विद्रोही' कविता बहुत चर्चित रही है। रामविलास के एक मित्र ने उन्हें यह कविता सुनाई और कहा, "हिंदी में इसका अनुवाद नहीं हो सकता।" रामविलास बोले, "जरूर हो सकता है। मैं करूंगा।" और उन्होंने नज़रुल इस्लाम की इस कविता को बड़े प्रभावशाली ढंग से अनूदित करके इसे 'रूपाभ' पत्रिका में छपवाया। कविता की प्रारंभिक पंक्तियां पढ़कर ही पता चल जाता है कि रामविलासजी ने मूल कविता की शक्ति और ओज को अनुवाद में पूरी तरह अक्षत रखा है–

मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!
मैं शास्ति शांति का नाश, त्रास में क्रांतिरूप,
मै रणकामी, चिर सजग वीर!
मै महाविश्व के महाकाश का वक्ष तोड़,
मैं रवि, शशि, ग्रह-उपग्रह पीछे नक्षत्र छोड़,
मैं महर्लोक, स्वर्लोक भेद शतकोटि लोक,
पहुंचा अलोक के लोक, त्रस्त प्रभु को शंकित करता सशोक,
मैं वसुंधरा का उर विदार
मैं चिर विस्मय निकला उसमें से चमत्कार,
है अग्नि शिखाओं का पहनाया जिसे रुद्र ने कंठहार।
मैं चिर गर्वोन्नत शीश, हेर नतशीश जिसे
उत्तुंग हिमालयशृंग धीर!
मैं विद्रोही, मैं चिर अधीर!

रामविलासजी ने बल्गारिया के राष्ट्रीय कवि निकोला वप्त्सारोव की भी बहुत-सी कविताओं का अनुवाद किया है। वप्त्सारोव बल्गारिया के जनकवि थे, जिन्हें वहां की जनता बेहद प्यार करती है। उन्होंने अपनी मातृभूमि की प्राकृतिक सुंदरता, जिस पिरिन पर्वत पर उनका गांव बसा था, उसके अनूठे सौंदर्य के साथ-साथ देश के मामूली लोगों की गरीबी, अभाव और तकलीफ़ों को बड़ी कशिश के साथ अपनी कविता में व्यक्त किया। उनकी कई कविताओं में देश की आज़ादी के लिए युद्ध के मोरचे पर शत्रु का मुकाबला करते हुए बहादुरी से जूझते सैनिकों का जोश और जुनून है। रामविलासजी के अनुवाद में मूल कविताओं जैसी ही स्वाभाविक खनक है। 'साथी का गीत' में मोरचे पर लड़कर शहीद होने वाले बहादुर दोस्त की उदास कर देने वाली स्मृति है–

तुम नहीं लौटकर आओगे फर्नदिज
बरसी है आग मशीनगनों से पंक्ति पर,
पागल कुत्ते-सा हू-हू करता है
चारों ओर निर्जन में अब भी हवा का स्वर।

....

सबों से आगे बस तुम्हीं ने वार किया
पास ही सुनी मशीनगनों की गर्जना,
तुम लड़खड़ाए, फिर सिर से खून बहा
नहीं अब लौटने की कोई संभावना
कब्ज़ा कर लिया है हमने ढलान पर
टूट गई शत्रु पंक्ति, छोड़कर भागे रण,
काश तुम देख पाते दृश्य यह फर्नदिज
कितने प्रसन्न होते साथी, तुम उस क्षण।

'पत्नी का गीत' भी बड़ी करुण कविता है। पति मोरचे पर लड़ने गया है और पीछे पत्नी का मन तरह-तरह के भय और आशंकाओं से भरा हुआ है–

सूने घर के आंगन में छाई है शांत उदासी,
युद्ध खत्म हो गया, न लौटा फिर भी एक प्रवासी
रो-रोकर मैंने समझाया, तुमने एक न मानी,
चले गए तुम साथ रह गया, बस आंखों का पानी।

बेशक रामविलासजी द्वारा किए गए कविताओं के अनुवाद बड़े ही सहज हैं। एकदम मूल कविता की तरह सहजता से मन में पैठने वाले। फिर चाहे बांग्ला कविताओं का अनुवाद उन्होंने किया हो या फिर बल्गारियाई कविताओं का। उन्हें पढ़ना सचमुच एक अलग और आनंदकारी अनुभव है।

रामविलासजी का कवि भी उनके चिंतक और आलोचक की तरह बड़ा और आदमक़द है। वे किसानी पृष्ठभूमि और ज़मीन से जुड़े कवि हैं, जिनकी कविता की सतरों में भारतीयता की सुवास है। उनका कवि केवल भावनाओं में ही नहीं बहता, उसके पास एक चिंतक और आलोचक की भी नज़र है और यही चीज उसे अपने समकालीनों से अलग, विशिष्ट और जनता से जुड़ा एक बड़ा कवि बना देती है। ❑

संपर्क : 545, सेक्टर-29, फरीदाबाद-121008 (हरियाणा)

साक्षात्कार

बदलने का काम हर समय में राजनीति ही करती है

ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित वरिष्ठ कवि **केदारनाथ सिंह** *से* **मो. ज़ाहिदुल दीवान** *की बातचीत*

प्रश्न : **आपको 49वां ज्ञानपीठ पुरस्कार सन् 2013 में दिया गया। आप ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले हिंदी के 10वें लेखक हैं। राष्ट्रपति से ज्ञानपीठ लेते समय आपने कैसा महसूस किया था?**

उत्तर : ज्ञानपीठ मिलना मेरे लिए तो एक सामान्य प्रक्रिया है। इससे पहले कई सारे सम्मान मिले हैं, उस सम्मान की कड़ी में यह भी है। और वह जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। पुरस्कार पाना लक्ष्य नहीं होता। उत्सव; ठीक है जीवन में उत्सव भी होते हैं। पर जीवन उत्सव से नहीं बनता है। इतनी सारी समस्याएं जीवन में होती हैं। मानव जीवन में स्वाभाविक जो प्रॉब्लम्स हैं, जो होती है रोज़मर्रा की ज़िंदगी में, एक साहित्यकार के लिए भी वे अलग नहीं होते। मैं भी सामाजिक प्राणी हूं, मेरी भी बहुत सारी समस्याएं हैं। तो, यह सब होता रहता है। यह मेरे लिए एक खुशी की बात थी कि महामहिम राष्ट्रपति के हाथों मिला। ज्ञानपीठ का एक महत्व है कि देश के बहुत सारे बड़े लेखकों को यह पुरस्कार मिला है। सुमित्रानंदन पंत को मिला, महादेवी वर्मा को मिला। ये बड़े लोग थे। इनसे हमने कलम पकड़ना सीखा है। ये बड़े कवि थे। रवींद्रनाथ टैगोर, उनको नोबेल प्राइज मिला था। यह अच्छी बात है। हमारे लिए गर्व की बात है। वह इसलिए बड़े नहीं थे कि उनको नोबेल प्राइज मिला, बल्कि इसलिए बड़े थे कि उन्होंने बड़ा काम किया। बड़ी कृति को जन्म दिया। बड़ी रचनाएं की। कविता में भी, गद्य में भी, ऐसे अनेक क्षेत्रों में; वह तो चित्रकार बहुत बड़े थे, संगीत के बहुत बड़े मर्मज्ञ थे, विचारक बहुत बड़े थे, दार्शनिक बहुत बड़े थे, स्वाधीनता आंदोलन में भी उनका योगदान रहा। तो कई क्षेत्र से मिलकर उनका बहुत बड़ा व्यक्तित्व था। इसलिए मैं यह नहीं मानता कि वह नोबेल प्राइज के कारण बड़े थे। इसलिए यह भ्रम निकाल देना चाहिए कि किसी पुरस्कार के कारण कोई बड़ा या महत्वपूर्ण होता। यह समय उत्सव प्रिय समय है। तो इस समय में खेलो, खाओ, मस्ती करो; ये बाज़ार से आया हुआ कल्चर है। बाज़ार कीमत से चलता है। यहां हर चीज़ की कीमत होती है। बाज़ार साहित्य को भी बहुत प्रभावित कर रहा है। बाज़ार रचना को प्रभावित नहीं करेगा, अच्छी कृति को भी प्रभावित नहीं करेगा लेकिन पूरे माहौल को तो करेगा। कल्चर बाज़ार की चीज़ हो गई है। खरीदी-बेची जाने लगी है। बाज़ार में पुस्तकों की कीमत कितनी बढ़ी है? अच्छी किताब बहुत कम बिकती हैं। जो कम अच्छी किताब हैं या ख़राब किताब हैं, वे ही अधिक बिक रही हैं। तो मैं यह कह रहा था, इसलिए जो साहित्य बाज़ार से बच के अपनी अस्मिता बनाए रखे वह बड़ा साहित्य होता है।

राष्ट्रपति ने कहा कि केदारनाथ जी ने अपनी कविताओं द्वारा हम अनुप्रास और काव्यात्मक गीत की दुर्लभ संगति दी है। उन्होंने यह इच्छा भी जताई कि नई पीढ़ी के लेखक भारतीय क्लासिक में गहराई तक उतरें। उनकी इस मान्यता से आप कहां तक सहमत हैं?

इस बात को तो वही अधिक स्पष्ट कर सकते हैं, ये उनके शब्द हैं, मेरे तो नहीं हैं। मैं इससे अगर कोई अर्थ ग्रहण करूं तो यह कि कविता में एक संगीत भी होता है, लय, रिदम; अनुप्रास बढ़ाता है उसको। तो.... वह उसमें एक ख़ास तरह की गीतात्मकता, लिरिसिज्म (lyricism), भावमयता, जो साहित्य में होती है (जो बांग्ला साहित्य में बहुत है, टैगोर में भी है। 'गीतांजलि'



में तो भरा ही हुआ है।) तो... वे यह कहना चाह रहे होंगे कि साहित्य में ये भी एक पक्ष होता है; और यह बड़ा महत्वपूर्ण भी है, जिधर लोगों को ध्यान देना चाहिए। मेरा ख्याल है ऐसा कहते समय उनके दिमाग़ में रवींद्रनाथ टैगोर थे और उनकी 'गीतांजलि' थी। मैं टैगोर को आदर्श मानता हूं लेकिन टैगोर मेरी दृष्टि में केवल 'गीतांजलि' के कारण बड़े नहीं हैं। उनकी बहुत-सी कृतियां और हैं। उनकी 'बलाका' नामक पुस्तक, दूसरी 'मानसी', ये उनके काव्य-संकलन हैं। ये सब भी बड़े महत्वपूर्ण काव्य-संकलन हैं। उन्होंने क्लासिक की बात कही; क्लासिक पढ़े जाने चाहिए। जरूर पढ़े जाने चाहिए। और हमारे जो बड़े; मध्य युग की जो बड़े ज्यादातर भक्त थे, सूफ़ी थे; ये जो हमारे कवि थे इनसे नई पीढ़ी कट रही है। इनको नहीं पढ़ रही है। आज का है तो पढ़ेगी लेकिन बीते हुए कल को नहीं पढ़ेगी। हमें परंपरा को जानना चाहिए। उसको हम काव्य कहते हैं। तो....राष्ट्रपति संभवतः इस ओर इशारा कर रहे थे।

'तीसरा सप्तक' (1959 ई.) में जब आपको शामिल किया गया उस समय आप महज़ 25 साल के थे। 'तार सप्तक' के कवि बनने और अज्ञेय के साथ काम करने के अनुभव को आज आप किस रूप में याद करते हैं?

दुनिया बहुत बदल गई है। जब मैंने शरू किया था तब मैं युवा था। और एक युवा के जो उत्साह से भरे अपने शब्द होते हैं। दुनिया को आशा से देखता है। मैं अपनी जगह बनाऊंगा, कुछ करूंगा। कुछ करने का माद्दा होता है। जिस क्षेत्र में भी हो। साहित्य में हूं तो वहां कुछ करूंगा। और करूंगा तो, करके चुप नहीं बैठा रहूंगा। थोड़ा बदलूंगा भी, समय को, समाज को, लोगों को। ये सारे उत्साह होते हैं। ये उत्साह उस समय था। आज वह उत्साह थोड़ा कम हो गया है क्योंकि दुनिया का दबाव बहुत ज्यादा है। बाज़ारवाद का सबसे बड़ा प्रभाव है मानव के पूरे जीवन पर।

.... मैं इसको एक मूल्यहीन स्थिति मानता हूं। तो मूल्य समाज के बिखर से गए हैं, टूट से गए हैं। नए मूल्य बन नहीं रहे हैं। बिना मूल्य के समाज चलता नहीं है। कुछ हमारे मूल्य होते हैं। वह हमारी सामाजिक स्थिति के भीतर से ही पैदा होते हैं। वह बनता हुआ मैं नहीं देख रहा हूं। ये

जो आशावादिता मेरे मन में उस समय युवा काल में थी वह आज नहीं है। कभी-कभी निराशा भी होती है। लगता है दुनिया कुछ ज्यादा ही बदल रही है। कितना अशक्त समाज हो गया है!

हिंदी के अधिकतर कवि अपने आलोचकों से नाराज़ ही अधिक रहते हैं। इसके कारण कई बार व्यक्तिगत भी होते हैं। ज़ाहिर है, जो कवि या साहित्यकार समय के शिखर पर पहुंचते हैं उन्हीं की आलोचना-समालोचना लोग अधिक करते हैं। आप आलोचकों की इस प्रवृत्ति की किस रूप में व्याख्या करते हैं?

आलोचना का विकास रुक गया है। उसका विकास नहीं हो रहा है। मैं हिंदी को जानता हूं। दूसरी भाषाओं की भी थोड़ी-बहुत जानकारी मुझे है। अभी इक्कीसवीं सदी में आलोचना की कोई पद्धति बनी नहीं है। एक नैतिक बल की तरह काम करता है आलोचना का तंत्र। नई आलोचना, इक्कीसवीं सदी की अपनी आलोचना पद्धति अभी बनी नहीं है। बीच में जो बनी थी, वे पुरानी पड़ गई। नया समय आ गया। चीज़ बदल रही हैं। सरकार रोज़ बदल रही है। इसलिए परिस्थितियां भी बहुत बदल गई हैं। अब उसमें दुनिया एक नहीं है। एक होते हुए भी अनेकता बनी हुई है। कोशिश है उसको बौद्धिक, कृत्रिम ढंग से एक बनाने का। ग्राम, विश्वग्राम पता नहीं क्या-क्या? वह हो नहीं पा रहा है। वह केवल एक छलावा है जिसकी बात की जाती है। जिसकी बात उत्तर आधुनिक विचारक करते रहे हैं। इस सारे माहौल के बीच ठीक से आलोचना के अपने मूल्य बने नहीं हैं। विकसित नहीं हुए हैं। आज के समय के लिए जो आलोचना चाहिए वह नहीं बनी है। मुझे लगता है कि आज पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में मैं हिंदी की बात करूं तो आलोचना रुकी हुई है, ठहरी हुई है। कविता, कहानी, उपन्यास कुछ अपना काम थोड़ा-बहुत करते हैं, कुछ आगे किया भी होगा लेकिन उनके लिए आलोचना ने अपना औज़ार विकसित नहीं किया, मुझे ऐसा लगता है। होता क्या है कि जब नई पीढ़ी आती है; नई पीढ़ी को कभी आलोचना के लिए पीछे नहीं देखना चाहिए। मूल्यांकन के लिए पीछे नहीं देखना चाहिए। अब खुद हम अपना मूल्यांकन करेंगे। हर पीढ़ी जब आती है, मैं तो हिंदी में देखता हूं, दूसरी भाषाएं तो अपने आलोचक साथ लेकर आती हैं। हमारे आलोचक, हमारे बीच से तेजस्वी युवा आलोचक पैदा हों और वे मूल्यांकन करें। वे लोगों को कायल करेंगे, विवश करेंगे कि देखिए यह अच्छी चीज़ है। उसके लिए तर्क बनाएंगे। और सही पहचान करेंगे। ऐसा नहीं हो रहा है। ऐसा होना चाहिए। आलोचना का विकास होना चाहिए। बहुत जरूरी है समाज के लिए। वे एक marble force की तरह होती हैं। अच्छे-बुरे में फ़र्क़ करती हैं। सब धान ढाई पसेरी जो कहते हैं लोग। ऐसा नहीं हो रहा है। अच्छे-बुरे के बीच की रेखा आज बहुत स्पष्ट नहीं हो पा रही है।

आपकी कविता के बारे में किसी ने लिखा है कि कवि केदारनाथ सिंह की कविताएं समय के साथ संवाद करती हैं। यही वजह है कि आपकी कविताओं में एक तरह की प्रश्नाकुलता दिखाई देती है। ऐसी प्रश्नाकुलता, जो कहीं गहरे पैठकर पाठक को बेचैन करती है। अपने समय और समाज को ध्यान में रखते हुए कविता की इस व्याख्या पर आप क्या प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहेंगे?

मेरी कविताएं समय के साथ संवाद कितना पैदा करती हैं, मैं नहीं जानता। इसकी जांच-पड़ताल मैंने नहीं की है। लोग कहते हैं मैं सुन लेता हूं। मैं प्रश्नांकित, अपने-आप को करता हूं। मैं जो कर रहा हूं उसका क्या मूल्य है? गांव में बैठा मेरा भाई, क्या वह जानता है मुझे? मेरी रचना को जानता है? वह मुझे जान सकता है, परंतु मेरी किताब से कोई नहीं जानता होगा। तो मेरा लिखा हुआ शब्द अगर उस तक नहीं पहुंच पा रहा, तो मेरी लेखनी की क्या सार्थकता है? वह रिमोट क्षेत्र में बैठा हुआ खेती कर रहा है, निराई कर रहा है, हल चला रहा है। तो उस तक पहुंचना हमारे लिए बहुत जरूरी है लेकिन नहीं पहुंच रहा है। तो मुझे लगता है कि इसलिए मैं अपने-आप से सवाल पूछता हूं, क्या मैं कविता लिखकर समय की जटिलता को कम कर सकता हूं? नहीं कर सकता! पश्चिम के किसी बड़े लेखक ने सवाल पूछा था कि एक बच्चा भूख से तड़प रहा है। ग़रीब का बच्चा। अब कोई अच्छा-सा उपन्यास उसकी बग़ल में रखा हुआ है। क्या उसको बचा लेगा वह। अगर भूख से तड़प रहा है तो उसको भोजन बचाएगा। अन्न बचाएगा, दूध बचाएगा। किताब तो ये सब नहीं दे सकती। किताब अपना काम करेगी। बड़ा होकर वही बच्चा उसे पढ़ेगा। जब पढ़ेगा तो कुछ प्राप्त भी करेगा। लेकिन साहित्य की एक सीमा है। एक सीमा तक वह आनंद भी देता है, उत्साहित करता है, आगे प्रेरित करता है, कुछ मूल्य निर्मित कराता है। मूल्य का निर्माण करता है। सृजन करता है। ये सब होता है। लेकिन समाज को बदलने के लिए साहित्य अकेले कभी नहीं होता। इसलिए चाहे कम्युनिस्ट शासन रहा हो, चाहे आज का शासन हो, बदलने का काम हर समय में राजनीति ही करती है। सही बदले, ग़लत बदले। दोनों होता है। उसी में सब कुछ रखा है। गणतंत्र में यही होता है। जो सरकार आती है। जनता उस सरकार की मुखापेक्षी होती है। देखते हैं उसकी तरफ़ कि वह ठीक कर रही है या नहीं कर रही है। समय को बदलना है, समाज को बदलना है; तो साहित्य उसके लिए एक माहौल बना सकता है। अच्छा क्या है इसकी प्रेरणा दे सकता है। अच्छे को ओर जाएं कैसे, इसके लिए भी कोई रास्ता दिखा सकता है। परंतु आप न चलें तो हम क्या करेंगे? साहित्य कुछ नहीं कर सकता। साहित्य रास्ता दिखा देगा लेकिन समाज न चलने को तैयार हो, तो क्या करेंगे आप? साहित्य की पहुंच का दायरा थोड़ा सीमित है। और इसके पीछे बाज़ार है। अब बाज़ार का सबसे विकट रूप दिखाई पड़ रहा है, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में, टीवी में। वर्तमान में टीवी के आगे एक अच्छी कविता कई बार लाचार दिखाई पड़ती है। क्या करेंगे? युवा पीढ़ी उसको देखेगी, समाज भी उसको देख रहा है। उससे सीखता भी है। और ग़लत चीज़ ही अधिक सीखता है। ये सारे वे कारण हैं। यह बाज़ार है। टीवी बाज़ार है। सीधा बाज़ार हमारे घर में आ गया। पहले वह दूर था। पहले था 'कबीरा खड़ा बाज़ार में', इसलिए तो बाज़ार घर से बाहर था। कबीर दास का बाज़ार आज हमारे घर में घुस आया है। और घुस आया है तो हमको कह रहा है कि ये-ये करो, ये देखो। बच्चे देखते हैं तो मां-बाप उससे प्रभावित होते हैं। ये परिस्थितियां हैं जिनसे लड़ते हुए आगे बढ़ना है। इनको कैसे बदला जाए, इसको सोचते हुए आगे बढ़ना है। इसलिए हमारी समस्याएं जटिल हुई हैं। इतनी बड़ी जटिलता हमारे पहले के लेखकों के सामने नहीं थी। अच्छी बात यह थी कि आज से पच्चीस-तीस साल, पचास साल, साठ साल पहले जब प्रेमचंद लिख रहे होंगे तो उनके सामने सबकुछ बड़ा साफ था। तस्वीर बहुत साफ थी। वैसे साफ तस्वीर आज नहीं है। प्रेमचंद ने एक पत्र में लिखा था कि "मेरे लेखन का उद्देश्य क्या है? मैं दो-चार अच्छी किताब लिखूं ,जो देश को आज़ाद करने के काम आए। यानी आज़ादी। देश को आज़ाद करना है। सीधा लक्ष्य था उनका। इसको लेकर कोई दुविधा उनके मन में नहीं थी। और लिखा था कि मेरे बच्चे जो हैं वे कुछ पढ़ें-लिखें और अच्छा काम करें। और तीसरा उन्होंने कहा था कि और दोनों जून दाल-रोटी मिलती रहे, बस इतना ही।" इस तरह उनकी जरूरत बहुत सीमित थी। रोटी-दाल मिलती रहे, जीवन चलता रहे बस यही थी उनकी महत्वाकांक्षा। इतनी महत्वाकांक्षा आज नहीं है। आज तो, जो अध्यापक (लेखक) यहां पढ़ा (लिख) रहा है तो उनको एक अच्छा मकान भी चाहिए, एक गाड़ी चाहिए अच्छी, सुविधाएं चाहिए।

कपड़े एक दो नहीं अनेक हों। अब कोई एक जोड़ी जूते से काम नहीं चलाता है। कई जोड़े जूते चाहिए। पहले तो जूते ही नहीं होते थे। ख़ैर, आदमी का उपभोक्तावाद बढ़ा है। ये सब आज के लेखकों के सामने समस्या की तरह खड़ी है। इन सबसे टकराते हुए वह कुछ अच्छा बनाएं, अच्छा लिखें। समाज को जहां तक प्रेरित किया जा सकता है, अगर कर सकें तो करना चाहिए। ये काम नई पीढ़ी करेगी। मैं विश्वास करता हूं कि समय के बदलने के साथ नई पीढ़ी जरूर इसके साथ कुछ करेगी क्योंकि जो नया युवा आता है उसके मन में एक आदर्श होता है। जीवन में आदर्श टूटता भी है, परंतु बाद में। जब टकराता है, समस्याएं आती हैं, बेकारी से जूझना पड़ता है तब क्या करेंगे? तो उसके बहुत सारे सपने टूटेंगे ही। सपने टूटेंगे तो फ्रस्ट्रेट होगा ही वह। जीवन जीने के लिए नौकरी चाहिए, कोई धंधा हो जिससे आप जुड़ें और थोड़ा आगे बढ़ें।

आप मूलतः काशी की परंपरा के कवि हैं लेकिन लंबे समय तक शहर में रहने के कारण आपकी कविता में एक प्रकार से गांव और शहर का अंतर्द्वंद्व पैदा हो गया है। इसको आप स्थान के परिवर्तन का संकेत कहेंगे या यह समय के परिवर्तन का संकेत है?

जीवन तो बदलेगा ही। अब मैं गांव में तो रहता नहीं। दिल्ली जैसे महानगर में रहता हूं। यहां मैं आना नहीं चाहता था पर आ गया हूं। अभी भी मैं दिल्ली का नहीं हूं। मेरा मन तो जाता है अपने लोगों के बीच लौट-लौट के लेकिन मैं जानता हूं कि मैं लौट के जा नहीं पाऊंगा। परिस्थितियां बांध लेती हैं आदमी को। तो...वह है, इसलिए फ़र्क़ तो आएगा ही। मैं कुल मिलाकर लाख सहानुभूति रखूं उन लोगों के साथ जो गांव में रहते हैं लेकिन मैं रहता हूं शहर में, मैं दिल्ली जैसे शहर में हूं। और यह माहौल मुझे जकड़ता है, पकड़ता है, प्रभावित करता है। इसलिए फ़र्क़ तो होगा। गांव और शहर का फ़ासला अभी कम नहीं हुआ है। यह जरूर है कि गांव की बहुत सारी विकृतियां शहर से गई हैं। टीवी तक पहुंच गया। बाज़ार का बहुत सारा माल यहां जो बिकता नहीं वह गांव भेज दिया जाता है।....जैसे एक छोटी-सी बात कहूं—दवा की दुकानें हैं। तो वह दवाएं जो ताज़ा आती हैं बाज़ार की दुकानों में। वह दिल्ली में तो मिल जाएगी लेकिन मेरे गांव के पास जो छोटा बाज़ार है वहां तो वह दवाएं पहुंचती हैं जो बेकार हो गई हैं, जो out dated हो गई हैं। शहर में जो दवा out dated हो गई है वह दवा सप्लाई होती है गांव में। बेचारे गांव के लोग रिमोट जगह पर पड़े हुए हैं, वहां की कोई सुध लेने वाला भी नहीं है। डॉक्टर कोई दवाई लिखेगा तो गांव के लोग उसे खरीदेंगे ही वह काम करे या न करे। तो यह सब विडंबनाएं हैं। शहर गांव के साथ वह व्यवहार नहीं कर रहा है। शहर का बाज़ार, उसके लिए गांव एक कच्चा माल है। ये मुझे लगता है। जैसे चीन है वह अच्छा कर रहा है। उसने अपने गांव को थोड़ा बदला है। सबसे बड़ा परिवर्तन तो उसने यह किया, मैं गया तो चीन में देखा कि उन्होंने गांव में छोटे-छोटे उद्योग, कुटीर उद्योगों का यहां से वहां तक जाल फैला दिया है। तो वहां छोटे-बड़े लोगों को काम मिल जाता है। उसी से उनकी जीविका चलती है। अपनों के बीच रहकर कुछ कमाई कर लेते हैं वे। उसमें उनका जीवन ठीक-ठाक चलता रहता है। सड़कें हो गई हैं, बिजली हो गई, तो कुछ न कुछ काम करते रहते हैं वे। हमने अब तक वह नहीं किया है।

शुरू-शुरू में आपको कविता लिखने की प्रेरणा कहां से मिल रही थी? क्या हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचक जिस प्रकार नामवर सिंह के गुरु थे, कोई आपके भी गुरु रहे हैं? आपको एक सफल और महत्वपूर्ण कवि बनाने के पीछे किन-किन का सर्वाधिक योगदान रहा?

अब वह गुरु-शिष्य परंपरा साहित्य में कम हो गई है। (लेखन में) पढ़ने में है। शिक्षा जगत में है। कोई गुरु होता है, शिष्य होता है लेकिन कविता में नहीं, कहानी में नहीं, उपन्यास में नहीं। उर्दू में यह परंपरा थी; एक उस्ताद होता था और एक शागिर्द होता था लेकिन वह परंपरा भी लगभग समाप्त हो गई है। अलग-अलग समय में अलग-अलग प्रेरणा के स्रोत होते हैं। कुछ लोगों से प्रेरणा तो मिलती ही है। मैंने लिखना शुरू किया तो हमको निराला से बहुत प्रेरणा मिली। कुछ दूसरे कवि हैं जिनसे प्रेरणा मिलती थी। अभी भी निराला से प्रेरणा मिलती है। और भी बहुत सारे लेखक हैं जो अच्छे लगते हैं। तो यह समय-समय पर बदलता रहता है। किसी एक का नाम नहीं लिया जा सकता। शिक्षा में जरूर मेरे गुरु थे हजारी प्रसाद द्विवेदी जी। और साहित्य के जो मूल तत्व होते हैं, उन्हीं से मैंने सीखा था। वह आज भी मेरे लिए आदरणीय हैं, श्रेष्ठ हैं। उन्होंने पढ़ाया था हमें।

आपने दुनिया के किन-किन देशों में कविता-पाठ किया है? विदेशी मंच पर कविता पाठ करते समय आप कैसा महसूस करते हैं?

अभी यूरोप में मुझे बुलाया गया था। मैं भेजा जा रहा था यहां से। इस उम्र में मैंने यात्राएं कम कर दी हैं। दबाव बरदाश्त नहीं कर पाता। तो मैंने मना कर दिया। मैं अस्सी पार कर चुका हूं। इस उम्र में आकर बहुत तनाव नहीं लेना चाहिए। तो इधर विदेश तो नहीं गया। चीन से मैं प्रभावित हुआ था। वहां आदमी की आज़ादी थोड़ी कम है क्योंकि एक ही पार्टी का शासन है। बहुदलीय व्यवस्था या जनतंत्र तो है नहीं वहां लेकिन उन्होंने उस शासन व्यवस्था के भीतर काफी कुछ नया निर्मित किया है। कम-से-कम बुनियादी जरूरतें आदमी की पूरी हो रही हैं। हमारे यहां वह पूरी तरह पूरी नहीं हुई है। जैसे चिकित्सा; चिकित्सा के मामले में बहुत आगे है चीन। छोटा हो या बड़ा हर आदमी के लिए वहां चिकित्सा सेवा उपलब्ध है। कम दाम में सबको चिकित्सा मिल जाती है।

आपकी कविताओं का अनुवाद लगभग सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं के अलावा अंग्रेज़ी, स्पेनिश, रूसी, जर्मन और हंगेरियन आदि विदेशी भाषाओं में भी हुए हैं। अनुवाद को लेकर आगे आपकी और क्या योजना है?

अनुवाद भारत में दो स्तरों पर जरूरी है। एक तो हमारी अपनी ही कई महत्वपूर्ण भाषाएं हैं। चौबीस को तो सरकार ने मान्यता दी है संविधान में लेकिन हजारों भाषाएं हैं जिनको मान्यता नहीं मिली है। तो हम चौबीस को ही लें, जिसमें असमिया से लेकर दूसरी छोर तक (दक्षिण से उत्तर तक) ये सारी भाषाएं फैली हैं। इनमें एक परस्पर संबंध बनना चाहिए। हमको मालूम होना चाहिए कि असमिया में क्या लिखा जा रहा है? कैसा उपन्यास लिखा जा रहा है? असमिया को भी मालूम होना चाहिए कि हिंदी में, तमिल में या मराठी में क्या हो रहा है। और यह बड़ा भारी काम है। इससे बनेगा भारतीय साहित्य का स्वरूप। वह बन नहीं पा रहा है। असमिया साहित्य है, तमिल साहित्य है, हिंदी साहित्य है लेकिन भारतीय साहित्य नहीं है। कहां है? किसको कहें भारतीय साहित्य? ये सभी भारतीय साहित्य हैं लेकिन एक जगह नहीं हैं। तो यह बड़ा काम है। इसलिए भारतीय भाषाओं में आपसी संबंध बढ़े, इसके लिए इन भाषाओं में परस्पर एक-दूसरे का अनुवाद बड़े पैमाने पर होना चाहिए। अच्छे अनुवाद हों। अनुवाद की प्रकृति यह होती है कि कोई अनुवाद अंतिम नहीं होता है। एक ही कृति का अनुवाद बार-बार होता है तो होता रहे। मेरी कविताओं का भारतीय भाषाओं में बहुत अनुवाद हुआ है। ❑

संपर्क : 45 ई, ब्रह्मपुत्र हॉस्टल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067

पुण्य तिथि पर विशेष

अमृत कौर से अमृता प्रीतम तक

बलवंत गार्गी

उन दिनों अमृता प्रीतम 'अमृत कौर' हुआ करती थी। 1943 में फागुन के धार्मिक मेले में मैं प्रीत नगर गया। वहीं नवतेज सिंह मिला, तो उसने यह खबर सुनाई, 'इस बार कवि दरबार अच्छा रहेगा, अमृत कौर भी आई है।'

'राजकुमारी अमृत कौर'? मैंने पूछा।

'नहीं, भाई गीत लिखने वाली अमृत कौर। बहुत सुंदर लड़की है और बहुत ही सुंदर कविता करती है।'

'सुंदर लड़कियां कम ही सुंदर कविता कर पाती हैं...मैंने विस्मय प्रकट किया। नवनेज बोला, 'पर अमृत तो कमाल की है। अभी इधर आई, तो तुम से मिला दूंगा। 'प्रीतलड़ी' में प्रायः उनकी कविताएं छपती हैं...भावनाओं से पूर्ण, प्रेम से भरपूर महान कविताएं। स्वयं भी वह बहुत सुंदर है।''

अमृता मिली। उसने आंखों में काजल लगा रखा था, दरम्याना कद। उसके चेहरे पर ऐसी नारी की प्रतिष्ठा थी, जिसे लोगों ने रूपवती कह-कहकर प्रतिष्ठित कर दिया था।

मैंने कहा, 'भई, नवतेज, मुझे तो यह लड़की सुंदर नहीं लगती।'

'क्यों?'

'बहुत ही साधारण है।'

'शाम को कवि दरबार है। बहुत से कवियों ने अपनी कविताएं पढ़ीं। अमृता ने बंगाल के अकाल पर यह कविता पढ़ी'।

'कितना कुछ फालतू है।'

उसने बड़ी अदा से कविता, जो परंपरागत बंधनों से मुक्त थी, सुनाई। लोगों ने तालियां बजाईं। नवतेज मेरे पास ही बैठा था। मैंने उसकी ओर देखा और कहा, 'बड़ी बोगस है यह कविता। मुझे तो बिल्कुल अच्छी नहीं लगी।'

नवतेज बोला, 'बंगाल के महान अकाल पर है।'

मैंने कहा, 'महान अकाल पर लिखने से कोई कविता महान नहीं बन जाती। मुझे तो वह बहुत घटिया-सी लगी। उसने मुझ पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ा।'

प्रीतनगर में जिसे भी देखा, अमृता की प्रशंसा कर रहा था, जैसे कोई चाय की प्याली में गुड़ की पूरी भेली घोल डाले। ऐसे ही प्रशंसा थी। मुझे इससे कुछ चिढ़ सी हो गई।

यह मेरी पहली मुलाकात थी। उसके बाद मैं बहुत समय तक अमृता से नहीं मिला, फिर से लाहौर रेडियो स्टेशन पर नौकर हो गया। वहां कर्तार सिंह दुग्गल ने बताया, 'पहले कभी-कभी अमृता प्रोग्राम देने आती थी, पर अब उसने आने से इंकार कर दिया है?'

'क्यों'?

'पता नहीं।'

एक दिन लेखकों की मीटिंग थी। हमने अमृता को निमंत्रण-पत्र भेजा। वह नहीं आई। फिर एक मीटिंग मेरे घर पर हुई। उसने कहला दिया, 'प्रयत्न करूंगी'।

शाम को टेनिस खेलकर लौटती हुई साइकिल पर वह मेरे घर यह कहने आ गई कि कल वह मीटिंग में न आ सकेगी। उसे आवश्यक काम है। मैंने बैठने को कहा—अजनबियों की तरह बैठ गई। नौकर चाय ले आया, 'चाय पियोगी?'

'चाय तो मैं कम ही पीती हूं।'

'आज एक प्याली पी लीजिए। मैंने केतली से एक चाय की प्याली भरी।'

'अच्छा बताइए, आप मीटिंग में क्यों नहीं आ रही हैं?'

'मैं मीटिंग में जाना पसंद नहीं करती।'

'सुना है, पहले आप रेडियो पर प्रोग्राम देती थीं...'

'हां।'

'मैंने सितार बजाने के कुछ प्रोग्राम दिए हैं। अब मुझे रेडियो अच्छा नहीं लगता।'

'रेडियो...या रेडियो के लोग?'

'दोनों...एक औरत के लिए घर और समाज की ऐसी बंदिशें होती हैं कि वह इस प्रकार के बेतहाशा खुले वातावरण को पसंद नहीं कर सकती। लोग पान खा रहे हैं...सिगरेट का धुआं छोड़ रहे हैं, चाय के प्याले उड़ा रहे हैं, हा-हा, हू-हू का हुल्लड़ मचा हुआ है।'

'मुझे इस प्रकार मर्दों में बैठकर काम करना बुरा लगता है। इसलिए मैंने रेडियो स्टेशन जाना छोड़ दिया।'

बात खत्म हो गई।

'क्या लिख रही हैं आजकल कोई कविता सुनाइए।'

'किसी दिन हमारे घर आइए, तो सुनाऊंगी। मैं कविता सुनाने दूसरों के घर नहीं जाती'।

'अच्छा किसी दिन आऊंगा।'

कुछ महीनों के बाद मैं अमृता के घर गया। उसने घुमटी बाज़ार से मकान बदलकर अनारकली में एक फ्लैट ले लिया था। फ्लैट में चार-पांच कमरे थे। जालीदार परदे, तस्वीरें, सोफे। हमने चाय पी। कविता कोई नहीं पढ़ी। मैंने अपने संघर्ष की बात छेड़ दी। अमृता ने अपने संघर्ष की बात चलाई। 'आप क्या संघर्ष कर रही हैं?' मैंने विस्मय से पूछा।

उन दिनों मेरे लिए संघर्ष का मतलब आर्थिक संघर्ष था। मैंने तीन वर्ष लाहौर में बेकार घूमकर जगह-जगह ट्यूशन करके अंततः रेडियो स्टेशन पर सौ रुपये की नौकरी ढूंढ ली। अमृता कौन-सा संघर्ष कर रही थी?

अमृता की शादी अनारकली के बहुत धनी व्यापारी के साथ हुई थी। लाखों का व्यवसाय था। शाम को वह एक शानदार फिटन में बैठकर लारेंस बाग की सैर को जाती थी। वह कुछ सोचकर बोली, 'आर्थिक संघर्ष'।

'यदि आपको कठिनाइयों का सामना है, तो एक मामूली इंसान को कितना होगा'? मैंने परेशान होकर कहा, 'सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक....हर प्रकार की परेशानियां मुझे हैं। परेशानियों के झुंड हैं। मेरे चारों ओर जितने मिलने वाले आते हैं, दो-चार को छोड़कर सब ही परेशानियों के पिटारे होते हैं'।

उसका चेहरा पीला और शिथिल था, जैसे कोई बहुत समय से बीमार हो।

अमृता प्रीतम, असली नाम : अमृत कौर
पिता का नाम : कर्तार सिंह हितकारी
जन्म : 31 अगस्त 1919
निधन : 31 अक्तूबर, 2005

पुरस्कार

1956 में साहित्य अकादमी पुरस्कार
1966 से 2002 तक 'नागमनी' पत्रिका पंजाबी में निकालती रहीं
1969 में पद्मश्री पुरस्कार
1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से डी-लिट् का सम्मान
1979 में वापत सावा पुरस्कार
1982 में भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार



1983 में जोधपुर विश्वविद्यालय की ओर से डी-लिट् सम्मान
1983 में विश्वभारती विश्वविद्यालय की ओर से डी-लिट् सम्मान
1986 में पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से डी-लिट् सम्मान
1987 में फ्रेंच सरकार की ओर से डिग्री
1989 में एस.एन.डी.टी. मुंबई विश्वविद्यालय की ओर से सम्मानित डिग्री
1990 में पंजाबी अकादमी की ओर से वारिसशाह अवार्ड
2004 में साहित्य अकादमी फैलोशिप।

'आप बीमार रही हैं?'

'हां, अब भी बीमार हूं। हर चीज़ खोखली सी लगती है। प्रायः तो ऐसा अनुभव करती हूं कि कविता आदि भी फ़िजूल सा मन बहलावा है। क्या रखा है इसमें? मैं अपनी पिछली कविताओं पर नज़र डालती हूं...छह पुस्तकें। मुझे इस पर कोई विशेष गर्व नहीं। पता नहीं, कैसे लिख डाली इतनी कविताएं। अब एक भी नहीं लिखी जाती, जैसे मैं रुक कर सोचने लगी हूं। यह सब क्या है? इंसान को कभी-कभी सोचने के लिए रुक जाना चाहिए। आजकल मैं रुक गई हूं'। इसी प्रकार मेरी कविता भी रुक गई है। इसलिए कुछ थकी-हारी लगती हूं...क्षमा करें...मैं भी कैसी बातें ले बैठी हूं।'

मैंने देखा, अमृता में थकावट थी। उसके चेहरे पर ज़र्दी बिखरी हुई थी। चेहरे की रेखाएं खिंची हुई थीं, जैसे किसी ने चारों ओर से उसका चेहरा कस दिया हो। चेहरे पर से फ़ालतू मांस छंट गया था।

बातें जीवन के बारे में, समाज के बारे में, कलाकार के भाग्य के बारे में होती रहीं। बीच-बीच में कोई और बात भी होने लगीं। चाय की प्याली बनाते हुए उसने पूछा, 'आपको प्याज़ के पकौड़े अच्छे लगते हैं या मिर्च के'?

'मिर्च के।'

'मर्द तो मिर्चों से कतराते हैं, आप मिर्चें कैसे खा लेते हैं?'

'बचपन में मैंने मां की कड़वी बातें खाई हैं। यह मिर्चें उनसे ज्यादा कड़वी नहीं, भला आपको मिर्चें क्यों स्वादिष्ट लगती हैं?'

'इसलिए कि मैंने इतनी मीठी चीज़ें खाई हैं कि अब कड़वी चीज़ें अच्छी नहीं लगती। इसी प्रकार प्रशंसा की बात है। मुझे बहुत प्रशंसा अच्छी लगती हैं। एक-दूसरे की प्रशंसा से इंसान की बात का स्तर एक ख़ास दिशा में ऊंचा नहीं उठता...प्रेम और घृणा...विचारों के दो प्रतिबिंब...दो गहराइयां...जीवन की तस्वीर दिखाते हैं।'

'आपका विश्वास प्यार पर है या घृणा पर?'

'घृणा भी इतनी घृणित चीज़ नहीं। प्यार का उल्टा पक्ष ही तो है। दुपट्टे के सामने प्यार और उलटी ओर जहां आपको टांकें नज़र आएं, घृणा है। कई लड़कियां दुपट्टे को सीधे तरफ़ से ओढ़ती हैं और कई उलटी तरफ़ से। आप कविता का दुपट्टा किस तरह से ओढ़ती हैं?'

'आजकल मैं ओढ़नी को उलटी तरफ़ से काट रही हूं, घृणा की सुई से।' उसका मुंह और भी खिंच गया और उसकी नाक सुई की तरह तीखी-तीखी लगने लगी।

हम दो घंटे बैठे रहे। चाय ठंडी हो गई। उसने फिर चाय मंगवाई। मैं कभी चाय को न नहीं कहता। मेरे कारण उसे भी कई प्यालियां पीनी पड़ी। मैंने कहा, 'आज ऐबक रोड पर दो छुरेबाज़ियां हुई। दो आदमी मरे। कई मित्र लाहौर छोड़ने की सोच में हैं। मार-काट में आप कहां जाएंगी?'

'कहीं भी नहीं।'

'रहेंगी कहां?'

'लाहौर में ही। यह फ़साद तो कुछ लोगों का पागलपन है। घृणा का फोड़ा फट गया है। गंदा खून बह रहा है। इसके बाद आराम हो जाएगा। मैं नहीं छोड़ूंगी लाहौर। लाहौर के साथ मेरी बहुत-सी यादें जुड़ी हैं। यहां की गलियों के मोड़, अनारकली, रावी, लारंस बाग, हर चीज़ से मुझे प्यार है। लाहौर छोड़कर मैं नहीं जाऊंगी।'

शाम गहरा गई। अनारकली में बिजली की बत्तियां जल उठीं। मैं जाने के लिए खड़ा हो गया। 'अच्छा, फिर कभी मिलें, तो कविता सुना दूंगी। इस समय मेरे पास कोई अच्छी कविता नहीं', उसने अलविदा कही।

फ़सादों का ज़ोर बढ़ता गया। लोग लाहौर छोड़कर भागने लगे। पंजाब की राजधानी छिन जाने से बहुत से लोग दिल्ली आ गए। अमृता प्रीतम भी आ गई और रेडियो स्टेशन पर काम करने लगी।

लोग पान खा रहे हैं। सिगरेट का धुआं छोड़ रहे हैं। चाय की प्यालियां उड़ा रहे हैं। हा...हा...हू...हू...का हुल्लड़ मचा हुआ है। इन मर्दों के बीच बैठी अमृता काम कर रही थी।

फ़सादों का ज़ोर बढ़ता गया। उसकी पुस्तकें, उसकी बग्घी और जालीदार परदे और कोठी वहीं रह गए थे। दिल्ली में आकर वह पटियाला हाउस के सर्वेंट की खोली में रहने लगी। जब बड़े-बड़े ठेकेदार कारोबारी यहां आकर अपने नाम मकान और दुकानें अलाट करवा रहे थे, अमृता ने अपने नाम केवल प्यार और दर्द अलाट करवा लिया।

सावन का महीना था। बादलों के सुरमई किनारे नीचे ही नीचे अटक रहे थे, जैसे बूढ़े अमीर की बंधी हुई पगड़ी खुल गई हो। बरसात अब हुई कि हुई। मैं उस समय अमृता के घर में था। उसने कहा, 'कालिदास ने 'मेघदूत'

लिखकर ठीक ही भेजा था, प्यार का संदेश सरकारी डाकिया नहीं ले जा सकता। पुराने वक्तों में कबूतर लेकर जाते थे और उससे भी पहले बादल। बादल अब भी संदेश लेकर जा सकते हैं, यदि कोई अपना संदेश इन बादलों को ही देना चाहते हों। चोर की मां की तरह उनका दिल बहुत गहरा होता है। यह प्रियतम के सारे भेद छुपाकर ले जाते हैं और ले आते हैं। एकदम मैंने उससे प्रश्न किया, 'तुम किससे प्यार करती हो?'

'अपने-आप से'

'झूठ'।

वह कुछ देर चुप रही। थोड़ी देर बाद उसने सिर उठाया और हंसने लगी। फिर अकस्मात् गंभीर हो गई और उसकी बड़ी-बड़ी चमकदार आंखों में गहराइयां छा गईं। 'मेरा प्यार दिल से उमड़कर बाहर नहीं छलकता। यह ख़ामोश, चुपचाप, पहाड़ों में घिरी हुई गहरी झील की तरह है। मर्दों का प्यार डूमनी की नदिया की तरह उफन-उफन पड़ता है। मैं ऐसे प्यार को अच्छा नहीं समझती। मर्द अपने प्यार का ढिंढोरा पीटता है। औरत उसे छुपाती है। मर्द इसको चौराहे पर रखकर लोगों को दिखा-दिखा कर खुश होता है। औरत अपने आंचल में समेटकर गांठ बांध लेती है और अब रात के अंधेरे में जब कोई नहीं होता, तो वह उसे देखती है। उसके साथ खेलती है, जैसे जुगनू आधी रात में रोशनी से खेलता है...उसकी रोशनी में मस्त और कोई आ जाए, तो एकदम उसे मुंह में रखकर खामोश हो जाती है।' अमृता ने प्रेम की कविताएं लिखीं ... गोर्की की उस लड़की की तरह जिसे एक गोपनीय प्रेम करने वाले से प्यार था। और जो दोनों की ओर से पत्र लिखाती थी। अपने-आप ही पोस्ट करके आप ही पढ़ लेती और खुश हो जाती थी। अमृता के इस प्यार में गोर्की के प्यार की भूखी उस लड़की की तरह एक ज़माने की आवाज़ थी, साथ ही अथाह...समुद्र की जैसी इच्छा और भावना। उस प्यार की भावना का सिंबल एक इंसान था, कोई काल्पनिक देवता नहीं,

एक मर्द...

एक दिन उसने अपनी नई कविता सुनाई—

'अम्बर'

नारियल का पेड़ है।

और नया चांद

सफेद, खोपरे की फांक

नारियल को किसने तोड़ा?

आज किसने उसका पानी चखा?

कविता सुनकर मैंने पूछा, 'तुम्हें नारियल का ख्याल कहां से आया?'

'नारियल का ख्याल...' वह सोचने लगी।

'भला तुम क्या सोच रही थी, जब वह गीत लिखा?'

'मैं उस वक्त मुंबई के बारे में सोच रही थी। मुंबई याद आ रही थी मुंबई अच्छी लगती है।'

'क्यों?'

'वहां मेरे मित्र हैं। शायद मैंने मुंबई में समुद्र के पतले किनारों पर उगे नारियल के पेड़ देखे थे और उनमें से झांकती चांद की फाक। इस तरह के नक्श मेरे दिल पर अंकित हो गए थे। उनका ख्याल आ रहा था। मैंने कहा, 'ठीक। लेकिन मुझे इस गीत में एक मर्द और औरत के भरपूर प्यार की झलक दिखाई देती है। 'अम्बर' मर्द की अलामत है और ज़मीन औरत की। तुमने अंबर को पुकारा है और नारियल का पेड़ मर्द की अलामत है। तुमने चांद और सफेद गिरी का ज़िक्र किया है, जो औरत का रूप है। हर त्योहार पर मुबारक काम शुरू करने से पहले मर्द के पहली बार मिलने और उनकी अटूट मुहब्बत की अलामत है। तुम्हारा गीत मर्द के गहरे जिस्मानी और रूहानी आनंद की ओर इशारा करता है।'

यह सोचने लगी। उसने यह सब कुछ नहीं सोचा था। उसने केवल प्रभावों को अनुभव किया था। उसके हस्सास में, दिल में चाहे केवल मुंबई के साहिल का पेड़ और चांद था, पर उसके अवचेतन में एक भरपूर औरत और मर्द की भावनाओं से भरा अक्स था।

उसने दूसरी कविता पढ़ी। यह किसी के पत्र के जवाब में लिखी थी। उसके अधिकतर गीत दिल के राज़ हैं। कभी उदास, कभी ग़मगीन, कभी प्रेम से लबरेज़, पुकार और कभी जज़्बात की किरणें। कभी वह शिकायत करती, कभी ख्वाब देखती है। यह सारे गीत आपबीती हैं। इसीलिए उसमें दर्द भी है और असर भी।

मैंने कुछ देर रुककर पूछा, 'अमृता, तुम्हें प्यार ने बहुत दुख दिया है।'

'बहुत।'

'बहुत?'

'हां...दुख और सुख भी प्यार की देन है, लेकिन उसकी जड़ों में सुख है। इसी तरह सुख की कोख में से भी दुख जन्म लेता है। लगता है, जैसे चुनरी के दो सिरे हों...एक दुख और एक सुख...मैंने चुनरी पर ओढ़ ली है, और उसके दोनों किनारे अपने दांतों में दबा लिए हैं।'

उन्हीं दिनों मैंने उसकी एक और कविता उसकी डायरी से पढ़ी। एक सवाल मेरे दिमाग़ में चक्कर काटता रहा। यह गीत उसने किसी दोस्त के साथ इंडिया गेट पर सैर करते हुए लिखा और डायरी में नोट कर लिया था।

उसके पहले गीतों में खिले फूलों, बादलों के आंचलों और इंद्रधनुष का ज़िक्र था। जज़्बात का तूफ़ान था, खामोशी नहीं। उस वक्त वह बेचैन थी और किसी अनजाने प्यार की अपरिचित मिठास का ज़िक्र कर रही थी।

धीरे-धीरे उसे ढोंग, झूठी ओट और समाज के ठेकेदारों से चिढ़ होने लगी। समाज क्या है? बहुत से लोगों का बनाया हुआ कानून, जिसको वह खुद नहीं मानते, लेकिन अंधाधुंध दूसरों पर लाद देना अपना हक़ समझते हैं।

उसने अपने दिल की गहराइयों में झांका। अलम्मा की सी झूठी परत उतर गई। आसमान ऊंचा-ऊंचा लगने लगा। ज़मीन चौड़ी-चौड़ी और पेड़ों, पत्तियों और सूरज और तारों की नई शक्ल देखने लगी।

उसके बाद वह मुंबई चली गई और कई महीने तक मेरी उससे मुलाक़ात नहीं हुई। जब दोबारा दिल्ली आई तो वह बहुत खोई हुई और उदास थी। जैसे कोई चीज़ कहीं भूल आई हो।

कुछ दिनों बाद मुलाक़ात हुई। मैंने कहा, 'आसमान कितना साफ़ है!'

'होगा।' उसने जवाब दिया।

'धूप कितनी कनकनी है!'

'होगी।'

'घास कितनी हरी है!

'होगी।'

आजकल अमृता की कोठी हरी है। निचली मंज़िल में वह खुद रह रही है। ऊपर की छत तैयार हो रही है। उसे जब भी टेलीफोन करो। वह सीमेंट की कीमत, संगमरमर की किस्में, सागवान और शीशम की ख़सूसियात और ईंटों की महंगाई की ही बात करती है।

'जब मैं पहुंचा, ऊपर की छत की रंगाई हो रही थी। मज़दूर मशीन से ऊपर के फर्श को रगड़ रहे थे।

सारा घर उस आवाज़ से गूंज रहा था।

मैंने कहा, 'तेरे घर में बड़ा शोर है?'

अमृता बोली, 'बस, एक सप्ताह और है यह शोर...उसके बाद बिल्कुल खामोशी हो जाएगी...सुकून। मुझे इस घर की बहुत इच्छा थी।'

'यह शोर नहीं, क्योंकि इसी में मुझे खामोशी की आशा है, लेकिन काफी हाउस के शोर से मुझे घृणा है, जहां लोग बोल रहे हों, ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे हों...यों लगता है, जैसे कुत्ते भौंक रहे हों।'

'इतनी बड़ी कोठी में तू अकेली रहती है? इसकी रखवाली के लिए कोई कुत्ता क्यों नहीं रख लेती?'

'कौन सा कुत्ता अच्छा रहेगा?'

'बुल डॉग, बुल टेरियर, आलसेशन या कोई देसी कुत्ता। देसी कुत्ते देसी औरतों की तरह खूंखार और वफ़ादार होते हैं।'

'मुझे कोई कुत्ता जरूर रखना चाहिए। मेरी कोठी अकेली है...बिल्कुल एक तरफ आगे नीम का घना पेड़ है और ख़ाली कुआं। मुझे कुत्ता अवश्य रखना चाहिए अकेली होती हूं...बहुत डर लगता है। बाहर कुत्ता बंधा होगा, तो हर एक फेरी वाला, चंदा मांगने वाला, दर्शन करने वाला नहीं आ सकेगा।'

'इन दर्शनबाज़ों से बड़ी घृणा है।'

'तेरा मतलब है, पढ़ने वालों से।'

वह हंसने लगी, 'नहीं, पढ़ने वाले तो पत्र भी भेजते हैं, पर हर नया कवि और कहानीकार, अपनी कहानी या कविता सुनाने आता है। आमतौर से पहले यही कहता है कि दर्शन करने आया है। कुछ कहानीकार बड़ी विनम्रता के साथ आते हैं, मुझे विनम्रता से भी डर लगता है। प्रायः यह विनम्रता वाले...'

'विनम्रता, तेज़ी, मिठास, अमृता...तेरे घर में बड़ा शोर है,' उसने कहा।

'कुछ लोग बहुत आदर से मिलते हैं, पर दो दिन बाद ही अपना इश्क हथेली पर रखकर पेश कर देते हैं, जैसे कोई इलाइची की तरह पेश करे। मुझे इस इश्क से घृणा है, जो इलाइची की तरह पेश किया जाए।'

'क्या तूने किसी से घृणा की है?'

'पूछ, प्यार किससे किया?

'चलो, यही सही।'

'मैंने जिसे प्यार किया, उसके बारे में लिखा है?'

'तूने कितने मर्दों से प्यार किया है?'

वह चुप हो गई। बाहर देखने लगी, जहां नीम की टहनियां कांप रही थीं। उसके चेहरे पर हवा की सुर्ख़ी नहीं बल्कि दर्द की रेखाएं फैल गईं। उसने कहा, 'दो मर्दों' का पहले से तो घृणा का सवाल ही नहीं....

'उसका जब भी खयाल आया है, सदा खूबसूरती का खयाल आया. ..कोमल सुंदरता का...। उसकी आवाज़ बहुत सुहानी थी। एक बार उसकी आवाज़ मैंने टेलीफ़ोन पर सुनी और कविता लिखी। उस आवाज़ को मैंने सदा सुंदर कशिश की शक्ल में देखा। वह कभी गुस्से में नहीं भटका। जब कभी उसे गुस्सा आया, वह चुप हो गया। उसका प्यार निःस्वार्थ है—भगवान की तरह।'

'बकवास।' मैंने उसकी कल्पना पर लानत भेजते हुए कहा।

वह बोली, 'हां, बकवास। ईश्वर और प्यार दोनों बकवास हैं।

'उस आदमी का नाम क्या था?'

'इसकी जरूरत नहीं।'

'क्यों?'

'क्या पता, वह नाराज़ हो जाए।'

'तू ग्रामीण औरत की तरह है, जो अपने खसम का नाम नहीं लेती। अगर उसके खसम का नाम गुलाब सिंह हो तो वह फूलों की बात करेगी, गुलाब नहीं कहेगी।'

वह कुछ सोचकर कहने लगी, 'हां मुझे ग्रामीण औरत ही के कुछ रस्मो-रिवाज अच्छे लगते हैं...।'

'मेहंदी, सुरमा, मिस्सी, करवाचौथ...'

'क्या तू करवाचौथ का व्रत रखती है?'

वह मुस्करा कर बोली, 'जब मेरा पति के खसम होने पर विश्वास था, उस समय मैं व्रत नहीं रखती थी। जब खसम के पति होने पर विश्वास नहीं रहा, तो अब करवाचौथ का व्रत रखती हूं।'

मैंने बात की दिशा बदलकर कहा, 'तू अपने प्रेमियों का ज़िक्र कर रही थी। पहला प्रेमी मुझे वहम सा लगता है। मायूस और दूसरा?'

'दूसरा पहले से बिल्कुल उल्टा है....बहुत ही सादा...मैंने उसका प्यार भी देखा है। मैंने उसकी खूबसूरती भी और कर्कशता भी।...'

'तू बार-बार घड़ी क्यों देख रही है?'

अमृता मेज़ पर दो घड़ियां पास-पास रखे हुई थी और वह उन्हें बार-बार छेड़ रही थी। उसने कहा—

'दोनों घड़ियों का वक्त मिला रही थी...।'

'दो घड़ियां कभी नहीं देखीं?' मैंने पूछा, 'कहां से ख़रीदी हैं?'

वह ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगी, 'यह घड़ियां सौतों की तरह हैं...उनमें कोई बात जरूर है। जब मुझसे मेरा दूसरा प्रेमी रूठ जाता है, तो दूसरी घड़ी बंद हो जाती और पहली घड़ी चलने लगती है और जब वह मान जाता है, तो पहली घड़ी रुक जाती है और दूसरी घड़ी टिक-टिक करने लगती है। एक बार मैंने दोनों घड़ियां लगाई। घड़ियों का जोड़ा...वक्त का जोड़ा...पिघलते हुए वक़्त के गोल दायरे।' वह कुछ देर तक सोचती रही। उसके चेहरे के पीछे सुलगती हुई किसी चिंता ने उसकी खुशी जज़्ब कर ली।

'क्या सोच रही हो?' वह खामोश रही।

मैं उसे देख रहा था... उस अमृता को, जो लाहौर के फ़सादों के बाद दिल्ली शहर में आई और धीरे-धीरे उसने अपनी कला को निखारा और समाज में अपने लिए बहुत ऊंचा स्थान बनाया। उसका लड़का कालेज में पढ़ता है। उसकी जवान बेटी अपनी खूबसूरत मां के अंदाज़ और बालों के स्टाइल की नकल करती है। उसकी पुस्तकें अनुवाद होकर हिंदी, उर्दू, गुजराती और बहुत सी विदेशी भाषाओं में छप चुकी हैं। उसकी दो मंज़िला पक्की कोठी तैयार हो रही थी।

मैंने पूछा, 'तू क्या सोच रही है?'

वह बोली, 'मैं सुरक्षित अनुभव कर रही हूं। पुस्तकें, बच्चे, घर, कोठी. ..सब कुछ है, पर स्वयं को एक औरत के लिए उससे बड़ी निराशा, इसे बड़ी पराजय क्या होगी कि उसका प्रेम का भविष्य क्या है?...मैं नहीं जानती। मैंने कल के बारे में सोचना बंद कर दिया है। बस आज? मैं केवल उस क्षण की प्रसन्नता में जीवित हूं...एक असफल जीवन मैंने कठिनतापूर्वक अपनाया है। मैं उसकी तरह हूं जो रोज़ाना कमाती है, और खा-पकाकर सो जाती है। कल उसे काम मिलेगा या नहीं, वह नहीं जानती...मेरा प्रेम...ऐसा ही है।

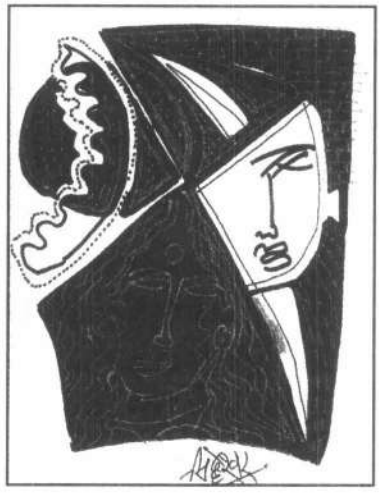
अकस्मात् खामोशी छा गई। गहरी घनी खामोशी। छत के ऊपर गरजती हुई मशीन बंद हो गई थी। एक बज चुका था। वह दोपहर का खाना खाने लगे थे। अमृता उसी की तरह बैठी थी, जिसने सुबह से रेत के कई छोटे-छोटे घरौंदे बनाए और अब बार-बार ढाह रही थी।

अनुवाद : **सुरजीत**

— कहानी —

आख़िरी सांस

कुसुम भट्ट



काया चित्त पड़ी है काली सीमेंट के खुरदरे फर्श पर! आंखें खुली छत पर टंगी, छत की कड़ी पर छिपकली रेंग रही है, लगता है गिर पड़ेगी। वह झट उठ खड़ी होगी। "ताराऽ ए! ताराऽ" कहकर बदहवास बाहर दौड़ेगी, जैसे वह कई मर्तबा कर चुकी थी, तारा गांव में हो या देश में उसी का नाम इस चखुली बूढ़ी के होठों पर आता रहा, पर आज वह काया के पिंजर से मुक्त हो चुकी है। अब उसमें छिपकली गिरे या सांप क्या फर्क पड़ता है, आंगन में पांच-छह आदमी दीवार पर चुप बैठे हैं, कोई बीड़ी फूंक रहा है और दूसरे गांव से लोगों के आने की राह देख रहा है, इधर दो-चार औरतें फुसफुसा रही हैं।

"हम तो सोचे थे बूढ़ी को यमराज भूल चुका है, भला इस उम्र तक कोई जीता है, वह भी इस तरह!!"

"निन्यानवे वर्ष! बाप रे! कितना मांग लाई थी बूढ़ी!"

"अब देखो तो इतनी अच्छी मौत लोग कहते रहे टट्टी-पेशाब में लिथड़-लिथड़कर जाने कब तक सांसें अटकी रहेंगी...।"

"और अब एक दिन भी बिस्तर में न पड़ी! इस कलजुग में ऐसी सच्ची मौत भागवानों को ही मिलती है बल!" जितने मुंह उतनी बातें। बूढ़ी के बेटों की प्रतीक्षा होने लगी है। देश से आने में कुछ तो वक्त लगेगा, फिर जितनी जल्दी हो सके मिट्टी को पंचतत्वों के हवाले कर देना है। बूढ़ी का बड़ा बेटा दीनानाथ अंदर-बाहर का चक्कर लगा रहा है, उसका चेहरा स्याह नीला है, आंखें नम, लगता है भीतर ही भीतर कुछ घुट रहा है। उसकी पत्नी सुलक्षणा का चेहरा प्रफुल्लित है, मनचाही मुराद पूरी जो हो गई है, टट्टी-पेशाब में लिथड़ती बूढ़ी को कौन धुलाएगा, घूंट पानी कौन देने वाला ठहरा, ऐसा नहीं था कि उसे बूढ़ी पर दया आ रही थी, वह सोचकर परेशान थी, कि सड़ांध का भभका उस तक आएगा, वह दरी बिछाती लोगों की लाई लकड़ी इक्ट्ठा करती बतिया रही है ताकि कोई यह न समझे कि इसने बूढ़ी सास की अंतिम समय पर भी थाह न ली। तारा भी अपनी पचहत्तर किलो की काया के सहारे लचक-लचक चलती हुई आ पहुंची है, तारा का घर बूढ़ी के सीधे ऊपर है, पर रास्ता न होने के कारण गांव के बीच से घूमकर आना पड़ता है, तारा और उसका पति नंदू जान-बूझकर देर से आए हैं, दरअसल तारा को इस बात का संतोष है कि बूढ़ी अंतिम समय तक उसके पास रही, वह अपनी चखुली फूफू को अपने पास महसूस करती रही। शायद तारा ने भी कल रात मृत्यु गंध सूंघ ली थी, तारा और नंदू अपने बेटों के पास देश रहते हैं, वे सिर्फ गर्मी और बरसात के दिनों गांव ठहरते, तब बूढ़ी की मौज़ बहार हो जाती। वह गांव के चक्कर लगाकर खेतों में चिड़िया चुरगुन से गुफ्तगू कर थकी-हारी तारा की देहरी में बैठ जाती तो तारा पूछती—"चखुली बूबुऽ भूख लगी है?"

बूढ़ी कहती, "हां छोरी बड़ी ज़ोर की भूख लगी है," दरअसल बूढ़ी की बहू अलग रहती थी, वह बूढ़ी को अपने घर में घुसने नहीं देती थी। कई मर्तबा बूढ़ी ने भूख के बलबूते पर कुछ खाने को मांगा तो उसने घुड़की दी" "सात हज़ार पेंशन मिलती है तो, उसको क्या?"

बूढ़ी कहती, "नोटों से पेट भरता है ब्वारी! काग़ज़ कैसे चबाऊं?"

तो? मेरे से इस उम्र में खाना बनेगा ब्वारी?

सुलक्षणा का कटु जवाब होता, "मुझसे कुछ चाहिए तो पेंशन इधर सरका पूरी की पूरी।"

बूढ़ी कहती, "दो हज़ार तू रखले ब्वारी और मुझे दो जून का खाना दे दे बस्स।"

"क्यों?" सुलक्षणा बिजली सी तड़तड़ाती, "बाकी रुपये किसको देगी, गांव में तो मैं ही ठहरी तेरे दूसरे बेटे-बहू देश में ऐश करें और सेवा टहल करूंमैं?"

सुलक्षणा बहू ने दो हज़ार भी हड़पे तो भी बूढ़ी को भरपेट खाना न मिला, बूढ़ी दाल में ज़ीरे-हींग की खुशबू सूंघती, लेकिन उसे दाल-भात नसीब न होता, बूढ़ी ने दो हज़ार देना बंद कर दिया तो बहू ने सूखी रोटी देनी भी बंद कर दी। बूढ़ी के तीन बेटे देश की राजधानी में रहते, एक बेटा इंजीनियर था, दो की हालत पतली थी। बस बूढ़ी को उनकी चिंता सताती और पाई-पाई जोड़कर जब वह गांव आते तो उनको देती। एक बेटा हमेशा रोगी बना रहता, मां का हृदय ज़ार-ज़ार रोता, लेकिन सुलक्षणा बहू को इससे क्या मतलब उसे तो बूढ़ी की पूरी पेंशन चाहिए थी, हालांकि उसका पति राज्य सरकार के भ्रष्ट विभाग में था, जहां से उसे काफी आमदनी होती। उसने शहर में बड़ा घर भी बना लिया था, बेटे भी अच्छा कमाते थे। सुलक्षणा गांव में खेती-बाड़ी, दुधारू पशुओं से काफ़ी पैसा निकाल लेती थी, वह दूध निकालती बाल्टी भर, बुढ़िया की लेकिन चाय काली ही रहती। बूढ़ी का मन होता एक कटोरा दूध उसे मिल जाए चाहे उसे कीमत चुकानी पड़े, लेकिन दुर्भाग्य से भूलकर भी दूध उसकी जीभ पर स्वाद न दे सका। बूढ़ी रोती ज़ार-ज़ार फिर गुस्से से श्राप देती, बहू की बातें लोगों को बताती। लोग बहू को समझाने की कोशिश करते तो वह उनको ही डांट देती, "तुम्हें इतनी ही दया आ रही है तो तुम क्यों नहीं देते?"

बूढ़ी को चाय की हुड़क लगती। लोग अपनी देहरी पर बैठी बूढ़ी को चाय पिलाते, खाना भी खिलाते, सुलक्षणा बहू वहीं पहुंच जाती, "क्यों चाय-रोटी दी इस चखुली को?" घरवाले कहते, "भगवान से डर सुलक्षणा, बूढ़ा सभी को होना है, जब तुम इसे खाना नहीं दोगी तो बेचारी देहरी-देहरी टोहती ठहरी।"

सुलक्षणा कहती, "इसकी पेंशन है इसे क्या कमी?" बूढ़ी के देश में रहने वाले बेटों ने बूढ़ी को लगभग सभी जरूरत का सामान मुहैया कराया था। बूढ़ी को गैस जलाना तो आता था, लेकिन बंद करना भूल जाती, आग लगने का डर होता। धुंआ उड़ता देख याद आता दौड़ती घर, कहीं वणांग लगती देखती या खेतों में आड़ा जलता, सोचतो कहीं उसका घर भी इसी तरह जला तो, उसने गैस-सिलेंडर बेच दिया, लकड़ी का चूल्हा जलाने लगी, भूख लगती खिचड़ी बनाने की सोचती, नमक की जगह चीनी या आटा डाल देती, दाल के बदले चायपत्ती, चाय बनाती चीनी के बदले नमक डाल देती, जब खाने-पीने बैठती तो एक कौर गले से नहीं उतरता, बरतनों को पटक कर फिर गांव के चक्कर लगाकर कोई रहमदिल देहरी टोहती, जहां दाल छौंक की खुशबू आती बेहिचक बैठ जाती, कुछ लोगों को नागवार गुज़रता, कुछ दयालु किस्म के उसके आगे थाली परोस पूछते, "क्या खाने का मन है सासू जी? काफली बनी है।"

बूढ़ी हींग और जखिया की सौंधी सुगंध को आंखों से पीकर थाली लपकती। "जी रै मेरी ब्वारी खूब फले-फूले तेरी फल-फूलों की क्यारी" फिर कृतज्ञ आंखों से देखते हुए पल भर में चट कर जाती, यदि साग ज्यादा हुआ तो धोती के पल्लू से ढकाकर थाली ले जाती, "रात को खाऊंगी दो रोटी तारा से लेकर इसमें खाती रहूंगी बाबा"। खूब स्नेह से सराबोर कर गृहणी को वह आशीष देती, ऐसा भी नहीं था कि बूढ़ी के बेटों ने उसे देश चलने को नहीं कहा—वह कहती कहां जाऊं मुरगी का दड़बा जैसा घर। मेरा तो दम घुटना हुआ, मेरे वास्ते तो बाबू अपना गांव ही सोरग हुआ। कहीं भी जाओ कौन रोकने वाला ठहरा। तुम्हारे

देश में तो इधर मत जा, उधर मत देख यहां मत बैठ, वहां खड़ी क्यों है? गाड़ी-मोटर का डर घुर्र-घुर्र पौं-पौं क्वीं-क्वीं कान के परदा ही फट गया बल! मेरा गांव तो देखो खुला आसमान ऐसी ठंडी हवा ये हरियाले पहाड़ कितनी तरह की पंछयों बोली ठहरी! ना बाबा मैं तो नी जाती तुम्हारे देश" पर बात इतनी सी भी नहीं दरअसल बूढ़ी को सबसे ज्यादा ख़तरा बहू के टोकने का रहता था। एक दिन बुख़ार में उसके कांपते हाथों से थरमस छूट गया था बेटे के सामने ही बहू ने उसे डांटा था, "पचास रुपये का नुकसान कर दिया सासू जी तुमसे नहीं संभलता तो आवाज़ मार देती।" उसके बाद बहू खाने-पीने की चीज़ों में कमी करने लगी थी, दूध-पानी जैसा होने लगा था, रोटी तीन की जगह दो मिलने लगी थी, चाय भी कसैली हो गई थी, बूढ़ी यह सोचकर बहू-बेटों को आशीर्वाद देकर "जी रै मेरी पूत संतान राज़ी-खुशी रहो पूतो फलो।" गांव आई तो उसने चैन की सांस ली। सोचा था बड़ा बेटा तो अपनी मां का सबसे लाडला है, इसके वास्ते तो दिनों का चैन रातों की नींद गंवाई थी वर्षों, बेटा दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए. पास करके गांव आया तो बूढ़ी के पंख लग गए थे, इतनी खुशी कि छलकते-छलकते बिखर गई थी गांव भर में, "मेरा दीनानाथ को डिगरी मिली है बल! चौदह पास हो गया बल, अब, पंद्रह दर्जा में पढ़ना हुआ बल मेरे तो भाग जाग गये नागरोजा!" बूढ़ी ने भाव विव्हल होकर लहराते नाग का ध्यान कर हाथ जोड़े थे, "लो बेटा गुड़ खाकर मुंह मीठा करो, लो ब्यारी, आज ही मंगाई ताज़ी भेली सिनगर से बल। इसे आशीर्वाद दो कि इसकी झटपट साहब की नौकरी लगनी हुई बल"! लेकिन ऐसा नहीं हुआ ग्रहों का खेल, इक्कीस वर्ष से डिगरी को देखता हुआ दीनानाथ अट्ठाइस वर्ष तक रोज़ी के वास्ते गांव से देश, देश से गांव भटकता रहा, सरकारी विभागों की खाक छानी। छल-छदम से रसूखदार लोगों तक पहुंचा तिकड़म लड़ाई खूब दोस्ती की, चेहरे पर एक और चेहरा लगाया। बड़े पदों पर बैठे घाघ लोगों की थाह ली, उनके भीतर घुसने का मार्ग तलाशा।

अंत में संविदा पर राज्य सरकार के विश्वविद्यालय में नियुक्ति हुई तो बूढ़ी ने सरसों के तेल में बने कई दिनों के बासी लड्डू बांटकर सुख से सरोबार हुई, कुछ दिनों बाद जवान बेटे के विवाह की चिंता हुई तो एक लड़की के बारे में सुना जो सुंदर तो न थी पर कर्मठ थी और उस पर इंटर पास भी, बूढ़ी की बाछें खिल गईं, "चमड़ी की सुंदरता भी क्या ठहरी जिस पर गुण ही न हो बल" बूढ़ी बहू के मेहनती रूप को देखकर फूली न समाती, पढ़ी-लिखी बहू खेती-बाड़ी घास काटना, दूध निकालना, लकड़ी काटना तथा घर के सारे काम-काज सुघड़ता से करती, जब वे लंबे टेढ़े पेड़ों पर खुंडा लगाती तो घास की पूली देने वाली को लगता की सुलक्षणा पल भर में यमराज के मुंह का निवाला बनने वाली हुई! वे "ज़रा संभल के सुलू ज़िंदगी सबसे कीमती ठहरी!"

लेकिन सुलक्षणा खिलखिला कर हंसती हुई अपनी सधी देह को हवा में लहराती "तुम बस्स पूली फेंकती रहो जिठानी जी...मेरी मौत तो मुझसे डरकर भाग रही है वो देखो'...वह एक हाथ से पतली टहनी पकड़कर देह को हवा में लहराती तो जिठानी के रोंगटे खड़े हो जाते, लेकिन अपनी कर्मठ बहू पर बूढ़ी को गर्व होता वह सहलाने लगी थी भाग्य "हे विधाता! ब्यारी तो तूने सोने की दी थी बल" बूढ़ी सोचते हुए अटक जाती "पर" बूढ़ी एक हिस्सा भात-झंगोरा ब्यारी की थाली में रखती और एक हिस्सा परिवार के तीन सदस्य खाते फिर भी उसका पेट नहीं भरता बल! बूढ़ी को दिनों-दिन ख़बर मिलने लगती कि बहू अमुक घर की देहरी बैठी चाय-रोटी खा रही थी बल" कभी अपनी भोजन की थाली पटककर किसी घर भात-दाल भकोस रही थी बल! घास लकड़ी लाते समय वह सर्र किसी दयालु परिवार की देहरी में खड़ी उचक कर टोहती "बड़ी खुशबू आ रही है जी क्या पकना हुआ जी"। गृहणी उसकी मीठी आवाज़ सुनकर हाथ पकड़कर भीतर खींचती। "रोटी बना रही थी ले खाले तू भी"। चार रोटी गरमा-गरम तश्तरी में रख बढ़ाती सुलक्षणा ना-ना कहती हुई भूखी कुतिया-सी झपटती, और बूढ़ी की निंदा करने लगती—"चूल्हे पर देगची में जितना भात झंगोरा ठहरा उतना तो मेरी एक आंत में जाना हुआ जी, बाकी पेट तो सासू जी खाली ही ठहरा" फिर तो सारे गांव में देहरी-देहरी हवा उड़ी कि चखुली बूढ़ी ब्यारी को भरपेट खाना नहीं देती, लोग मखौल भी उड़ाते और सास बहू की भूख में आनंद भी लूटते तो लबोलुबाव यह कि सुलक्षणा बहू की भूख ने उसे चखुली बूढ़ी का परमशत्रु बना दिया, उसने कभी न सोचा कि ग़रीबी में किसी तरह चार बच्चों को पढ़ा-लिखा कर योग्य बना रही सासू भर-पेट खाना खाती होगी? कई मर्तबा बूढ़ी देंगची में पानी डाल पी लेती थी, लेकिन ग़ज़ब का धैर्य ठहरा चखुली पर कि किसी को पता न चला! और बहू गिनगिन कर बदला लेने लगी थी। सुलक्षणा बहू की भूख का विस्तार होना ही ठहरा, वह लोगों के खेतों में भी काम करती, बदले में उसे पकवान मिलते, कुछ समय बाद पति स्थाई हुआ तो वह उसके साथ आ गई थी लेकिन कुछ सालों बाद उसने गांव में डेरा जमा दिया, अपने बंजर खेत आबाद किए गाय-भैंस, बकरी पाली। अब किसी चीज़ की कमी न रही बूढ़ी खुश होती सोचती कि बहू एक दिन उसकी सुध जरूर लेगी।

बूढ़ी की अवस्था काम करने की न रही तो वह भी देहरी-देहरी टोहने लगी थी। लोग मज़ाक बनाते सासू-ब्यारी दोनों ही लालची अपना अन्न बचाते ठहरे, आख़िर कब तक कोई रोज़-रोज़ थाली परोसे, लोग दाएं-बाएं हो जाते बूढ़ी ठगी रह जाती और अंत में तारा के घर आंसू बहाती। तारा कहती, "चिड़िया चुरगुन के खाने से कहीं कोई कमी नहीं आती" वह कुछ नहीं तो गुड़ और कोदो की रोटी ही देती, दूध नहीं तो काली चाय ही देती, सुलक्षणा तारा को प्रत्यक्ष नहीं टोक सकी, कारण तारा ने उसे भी छक-छक कर पकवान खिलाए थे, जब उसकी भूख देहरी-देहरी धाद लगाती थी तो तारा उसे भीतर खींच लेती थी, "ले खा ले ब्यारी छक जा भर पेट तो सुलक्षणा इतनी कृतघ्न नहीं ठहरी कि सीधे वार करती इसलिए अप्रत्यक्ष कहती, जिन्होंने अपनी सासू की सेवा-टहल करने में सौ बहाने बनाए वे भी महान बन रहे हैं बल!"

तारा और तेज़ आवाज़ में कहती, "हम तो देंगे जी हमने अपने पित्रों की भरसक सेवा की और जो हमारी देहरी में बैठा वो तो बल पौना हुआ न जी! अभी तो दुनिया में थोड़ा-भौत धरम बचा ठहरा बल। अभी तो कलजुग का पैला चरण हुआ बल! हम अंगूठा छाप ठहरे पर शास्तरों का हमें ज्ञान ठहरा सुना है भागवत में भूखे को भोजन दो बल प्यासे को पानी दो बल और जी जो दया-धरम के रस्ते पर रोड़ा डाले उस पर मारो पांच जूते बल, "तारा के आंगन में पूरी बिरादरी बैठी होती, वे सब खूब हंसते और तारा को सम्मान भरी नज़रों से देखते, सुलक्षणा बहू खून का घूंट पीकर रह जाती, पर सांच को आंच क्या? तारा सुनाती, "पित्र दोष से बचो बाबू... संभाल लो अभी भी मां का रे दीनू मां से बढ़कर दुनिया में क्या ठैरा रे दीनू मां रोती है तो धरती रोती है बल।"

दीनानाथ चाहते हुए भी मां की सेवा न कर पाया, वह देखता तारा बूढ़ी की कंघी करती, बूढ़ी की देह कई दिनों से न नहाने के कारण बास मारती, बाल औघड़ की जटाएं हों जैसे जूं से सिर भरा रहता, तारा जूं निकालने की कंघी से करोड़ती, लोग देखते, कोई भली बहू बूढ़ी की मनपसंद चीज़ बनाकर खिलाती दीनानाथ ने भी पत्नी से छुपाकर बूढ़ी को दूध का गिलास दिया था, लेकिन नासमझ बूढ़ी ने सुलक्षणा के सामने ही गिलास दिया था "तिरपत हो गई रे दीनू, तेरी मां"। उसके बाद जो तूफ़ान उठा उसमें बूढ़ी का अस्तित्व बिला गया था। अब वह सुलक्षणा का पति दीनानाथ था सिर्फ़। आज चखुली के प्राण उड़ने पर दीनू प्रकट हुआ था, वह किसी तरह भीतर के बवंडर को रोके हुए है। वह बार-बार तारा को निहार रहा है, "कितनी दयालू है यह स्त्री जो अपनी न होते हुए भी बहुत अपनी ठहरी।"

तारा दीनू की सोच से बेख़बर बूढ़ी को एकटक निहार रही है, उसकी चेतना में बूढ़ी के लड़खड़ाते शब्द बज रहे हैं, "मैं तेरी रिणी ठहरी तारा आख़िरी, सांस टूटने पर तेरा ही मुखड़ा आंखों में ठैरा सच्ची कहूं बाबा तूने मेरा मन-प्राण तिरपत दिया बल। तेरे बच्चे तेरी सरवण कुमार जैसी सेवा करें बल। तेरी काया में कभी कष्ट न हो"। बूढ़ी हींग जखिया से बघारी पिंडालू की सूखी सब्जी, पूरी और रायता जीमने के बाद राग अलाप रही थी।

❑

संपर्क : बी-39, नेहरू कालोनी, देहरादून

तीन कविताएं : **बाल कृष्ण शुक्ल**

प्रतीक्षा

किसकी प्रतीक्षा में खड़े हैं
ये वृक्ष?
कहां अपना जल लेकर
अर्पित करने को आतुर नदियां?
किसके सांसों का स्पन्दन,
बनना चाहती है हवा?
अद्‌भुत, आपाधापी के इस युग में
सब एक-दूसरे को कुचलकर,
आगे बढ़ जाने को हैं तत्पर!
'उसके गले में डालूंगा
अपने पुष्पों का हार'
वृक्ष कहता है,
'जो जीवन-व्रत लेकर
मुझे बचाने को है तैयार'
नदी चाहती है,
उसके चरण पखारना/जिसे
उसे कलुषित होने से,
बचाना हो स्वीकार,
हवा, 'उसके फेफड़ों में,
अपनी आहूति दूंगा,
जो स्वयं मेरी प्राण रक्षा का धरे भार'
बोलो! तुम इसमें क्या स्वीकारोगे?
फूलों का हार या चरण प्रक्षालन
या वायू-दूषकों का तिरस्कार,
या यूं ही चुप हो बैठोगे,
कह पड़ोगे,
भाई मेरे, मुझे तो स्वीकार है हार।



नियति

वह एक लंगड़ा आदमी था
जिसकी नज़र भी थी निहायत कमज़ोर
उसके सामने दो ही विकल्प थे,
सड़क पार कर सामने ढाबे से
रोज़ाना दो रोटी मांगना, खाना,
इस बीच तेज़ दौड़ती गाड़ियों से,
दबकर मर जाना,
या
अपनी मड़ई में चुपचाप सुरक्षित रहकर
बिना खाए मर जाना
वह रोज़ाना असमंजस में होता–
कौन सा विकल्प चुने
चार-पांच महीने बाद
मुझे पता चला कि वह मर गया
मगर कैसे? यह कोई भी नहीं बता सका
अरे यार! ऐसे लोगों के मरने की,
चर्चा करना, एक फ़ालतू बकवास है।

आपत्ति

उनकी आपत्ति अब इस पर है,
कि प्लेटफ़ार्म पर इस जगह,
बैठे, झुंड भर लोग
एक ही जाति के हैं
गो कि, अब यह भी अपराध है!
जुटा था, गंगासागर जाने को,
गांव का जब यह जत्था,
कोई चूड़ा लाया,
कोई गुड़,
कोई छना हुआ ठेकुआ, खुरमा।
'जै गंगा मैया की'
के उद्‌घोष के साथ
यह तय करके की,
बिना डुबकी लगाए नहीं लौटेंगे
चाहे, बचे या न बचें,
आख़िर, आत्मा तो अमर है न!
हां, सावधानी के लिए पर्चियां,
खोंस ली थी, सबने पाकेट में
देखना भैया, काकी, मौसी,
गुम हो जाने पर, यही काम आएगी,
सुना है, अक्सर वहां,
साथ छूट जाता है
उन्हें नहीं पता था,
ये पर्चियां ही उनकी जाति का
बनेंगी घोषणा-पत्र
और लोगों को होंगी
इससे आपत्ति
वे सीधे-सादे, भोले-भोले लोग थे बेचारे।

संपर्क : ए-304, मंत्री आवास, विभूति खंड, गोमतीनगर (लखनऊ)

चूड़ियों का नगर

प्रताप अनम

इस नगर की जिस गली में आप जाएंगे उस गली के घर-घर में चूड़ियों का काम होते देखेंगे। मर्द, औरत, बच्चे सब लगे रहे हैं इसी काम में। जिस गली में निकलेंगे उस गली में चूड़ियों के बिखरे टुकड़े मिल जाएंगे देखने को। कह सकते हैं कि चूड़ियांमय है इस नगर की मिट्टी।

चूड़ियां, भारतीय नारी के सुहाग का एक विशेष उपादान है। इसीलिए लोगों ने इस नगर को सुहाग नगर कहना शुरू कर दिया था लेकिन इस नगर का वास्तविक नाम है फ़िरोज़ाबाद। आगरा के उत्तर-पूर्व में बसा है यह नगर। एक समय फ़िरोज़ाबाद के अनेक लोग कांच की चूड़ी बनाने के प्रयास कर रहे थे लेकिन सबसे पहले सफलता उस्ताद रुस्तम बक्श को मिली। उन्होंने सबसे पहले चूड़ी बनाने का काम शुरू किया। उसके बाद उनके साथी भूरे खां, हाजी कल्लू उस्ताद और उस्ताद कादिर बक्श ने भी जल्दी ही चूड़ी बनाना सीखा और काम शुरू कर दिया।

कुछ समय नगर के तमाम लोगों ने चूड़ियां बनाना सीखा और भट्ठियां लगानी शुरू कर दी थीं। आरंभ में लकड़ी के बेलननुमा डंडों की सहायता से चूड़ियां बनाई जाती थीं। बाद में विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप समय-समय पर नए तरीके ईजाद होते गए और कांच की चूड़ियों के आधुनिकतम कारखाने खोले जाते रहे। चूड़ियों का काम तेज़ी से बढ़ता चला गया। कारीगरों की संख्या भी बढ़ती गई। आज इस नगर में लाखों की संख्या में कारीगर चूड़ियों का काम कर रहे हैं।

कांच की चूड़ियों का इतिहास भारत में लगभग 95 वर्ष पुराना है। सबसे पहले उस्ताद रुस्तम सन् 1918 में एक चूड़ी यानी पहली चूड़ी बनाने में सफल हुए थे। उन्होंने टूटे ग्लास के कांच के टुकड़ों को पिघलाया था और लकड़ी के बेलन पर तार खींचकर चूड़ी बनाई थी। इसके बाद उस्ताद रुस्तम एवं अन्य लोगों ने कांच बनाने के लिए रसायनों की जानकारी हासिल की। यमुना की रेत में रसायन मिलाकर कांच बनाने लगे और चूड़ियां बनाई जाने लगीं। सबसे पहले 'बांक' और 'दो रंगी' नाम से चूड़ियां बाजार में आईं। सन् 1926 में कारीगरों ने कांच में विभिन्न रंग मिलाकर 'गोला' और 'पॉसा' नाम से चूड़ियां बनाईं। जैसे-जैसे विज्ञान की तकनीकें आती गईं वैसे-वैसे नई-नई फैंसी चूड़ियां बनाई जाने लगीं। सन् 1932 में फैंसी चूड़ियां और बलदार कड़े सामने आए।

आज़ादी के बाद नगर में बड़े-बड़े कारखाने बनाए जाने लगे। एक-एक कारखाने में सैकड़ों-हज़ारों कारीगर काम करने लगे। सैकड़ों कारख़ाने खुल गए। कुछ वर्ष बाद कारखानों का विकेंद्रीकरण हुआ। कारखानों के घिसाई, झलाई, रंगाई, कटाई आदि अनेक काम नगर की गलियों में पहुंच गए। रंगाई और जुड़ाई का काम भी घरों तक जा पहुंचा।

वर्तमान समय में चूड़ियों की विभिन्नता का एक अलग संसार है। चूड़ियों की किस्मों को सामान्य रूप से, कलात्मक रूप से तथा बनावट या आकार के आधार पर बांटा जा सकता है। सामान्य रूप से बनने वाली चूड़ियां अंजुलाल, अंजुहरा, अंजुहल्दी (पीली), जिप्सी (हरी-लाल), अंजु, चौपेला, मेघदूत, कांप, निराली, रेशम, बादल, मारुति आदि नामों से जानी जाती हैं। ज़री की चूड़ियों में सापा चूड़ी, पॉलिश चूड़ी, हिल्लवाली चूड़ी और ज़रीवाली चूड़ी होती हैं।



कांच की चूड़ियां

तीसरे प्रकार की चूड़ियां उनकी बनावट और आकार के आधार पर मानी जा सकती हैं। जैसे गोल, चौपेला, त्रिपेला (कांप) और पलानी। आकार-प्रकार के अंतर्गत एक अलग तरह की चूड़ियां निम्न प्रकार की होती हैं—

ज़री चूड़ियां (पॉलिश रसायनों द्वारा), हिल्ल (सोने का पानी) की चूड़ियां, सादा चूड़ियां, मुड़ाई की चूड़ियां, फैंसी चूड़ियां (शादी आदि में प्रयुक्त) आदि अनेक प्रकार की हैं। चूड़ियों के रंग अमूमन सफ़ेद, लाल, नीला, पीला, सिंदूरी, हल्दी सुआपंखी आदि होते हैं।

चूड़ियां बनाने की प्रक्रिया बड़ी मनोरंजक और लंबी है। इसमें लगभग 12 फुट से 15 फुट व्यास की बड़ी-बड़ी भट्ठियां होती हैं। एक भट्ठी लगभग 5 फुट से 6 फुट ऊंची होती है। इसके अंदर अमूमन 7 से 12 पॉट होते हैं। एक पॉट का आकार लगभग 2 फुट से 3 फुट व्यास और 3 फुट से 4 फुट तक गहरा होता है। इस तरह की पॉट वाली भट्ठियां किसी-किसी कारखाने में एक से अधिक होती हैं।

भट्ठियों के पॉटों में रेता, सोडियम-एस, रंग तथा रसायन मिलाकर भर देते हैं। फिर भट्ठियां गैस की आग से गर्म करते हैं। पूरी भट्ठी को ढकने के लिए बड़ा ढक्कन ऊपर रखा जाता है। इससे भट्ठी की गर्मी बाहर नहीं निकल पाती। इससे पॉटों को अधिक से अधिक गर्मी मिलती है। भट्ठी थोड़ा एक ओर से खुली रहती है जिससे ईंधन पहुंचाया जा सके। पॉटों के बर्तन भी कुछ खुल जाते हैं जहां से पिघला हुआ कांच निकाला जा सके।

पॉटों में भरा मिश्रण लगभग 1200 डिग्री सेंटीग्रेड ताप पर पानी की तरह तरल होने लगता है। गाढ़ा होने पर लोहे की नोंकदार सरिया के छोर से 8-10 इंच कांच के गाढ़े घोल को लपेटते हैं। ऐसा कई बार करने पर कांच की लुग्दी (लोम) चार-पांच इंच मोटी और आठ-दस इंच लंबी हो जाती है।

इस प्रकार बने लुग्द (लोम) वाली छड़ के हिस्से को फिर छोटी भट्ठी में गर्म करके, नरम हो जाने के बाद लुग्दवाले छड़ के हिस्से को एक और भट्ठी के पास ले जाते हैं। वहां एक कारीगर यानी बत्तीवाले के पास पहुंचती है। बत्तीवाले के पास खुरपीनुमा लोहे की मोटी पत्ती होती है जिससे वह लुग्द



चूड़ियों पर हिल्ल करते हुए

को एक आकार देता है। वह रंग की धारियां या विशेष चूड़ी वाले लुग्द को आकार देता है। फिर उसे गर्म करके तार बनाने वाले के पास भेज देता है।

तार बनाने वाला कारीगर के पास एक छोटी भट्ठी में गर्म करता है। उसके बाद वह एक अन्य छड़ से लुग्द को थोड़ा अंश खोंटकर घूमते एक बेलन पर डाल देता है। वह अंश बेलन पर चिपककर घूमने लगता और लुग्द में से तार खिंचकर घूमते बेलन पर ही लिपटता जाता है। बेलन कांच के तार से पूरा भरने पर उसे उतारकर दूसरा बेलन चढ़ा दिया जाता है।

उतारे गए बेलन से कांच के तार का छल्ला उतारकर एक-दूसरे पर चढ़ाकर हीरे की कनी से एक सीध में काटते हैं। छल्ला कटने से तमाम अलग-अलग चूड़ियां बन जाती हैं। ये चूड़ियां कटे हुए जगह से दो छोरों में बंटी होती हैं। इसके बाद अच्छी चूड़ियां निकालकर तोड़ा बनाकर गोदाम भेज दी जाती हैं। इसके बाद झलाई के लिए गोदामों से चूड़ियों के तोड़े पूरे नगर की गली-गली, घर-घर में पहुंच जाते हैं। घरों में एक लोहे की प्लेट पर चूड़ियां फैलाकर नीचे जलते लैंप से हीट देते हैं। चूड़ियों को हाथ से दबा-दबाकर इकसार करते हैं। इसके बाद लैंपों से (लैंपों की लौ से) चूड़ियों के दोनों छोर जोड़कर पूर्ण चूड़ियां बनाते हैं। जुड़ी चूड़ियों के तोड़े बनाकर फिर गोदामों में वापस आ जाती हैं। यहां तक काम होने के बाद चूड़ियां सामान्य रूप से तैयार हो जाती हैं। इन्हीं चूड़ियों से सब प्रकार की चूड़ियां बनाई जाती हैं। प्रत्येक प्रकार की चूड़ियां तैयार करने वाले कारीगर अलग-अलग होते हैं और वे काम करने के लिए चूड़ियां गोदामों से ले आते हैं। कुछ कारीगर ठेकेदार होते हैं जो चूड़ियां गोदामों से ले आते हैं। ठेकेदार की तरह के कारीगर अन्य कारीगरों को काम देते हैं और कुछ पैसे दलाली के रूप में खाते हैं।

कुछ कारीगर सोने की हिल्ल की चूड़ियां बनाते हैं। इस प्रकार का काम करने वाले लोग चूड़ियां गोदामों से लाकर सबसे पहले डिजाइनर कटाई पर ले जाते हैं। पत्थर की घूमनी शान पर पानी डाल-डालकर कटाई करते हैं। कटाई कराने के बाद पकाई के लिए भट्ठियों पर ले जाते हैं। चूड़ियों की पकाई के बाद सोने की पॉलिश के लिए बस्तियों में जगह-जगह बांट दी जाती हैं। सब जगह से पॉलिश होकर आने के बाद चूड़ियां दोबारा पकाई के लिए भेज दी जाती हैं। पकाई के बाद चूड़ियां सोने की तरह चमकने लगती हैं। ये चूड़ियां बिक्री के लिए तैयार हो जाती हैं और गोदामों में भेज दी जाती हैं।

कुछ कारीगर पॉलिश की सादा चूड़ियां तैयार करते हैं। वे चूड़ियों की झलाई और जुड़ाई के बाद पकाई के लिए भेज देते हैं। पहली बार पकाई के बाद चूड़ियों पर सीधे पॉलिश करते हैं। पॉलिश के बाद चूड़ियां बिक्री के लिए तैयार हो जाती हैं। कारीगर इन चूड़ियों को गोदामों में पहुंचा देते हैं।

चूड़ियां बनाने की प्रक्रिया बड़ी मनोरंजक और लंबी है। इसमें लगभग 12 फुट से 15 फुट व्यास की बड़ी-बड़ी भट्ठियां होती हैं। एक भट्ठी लगभग 5 फुट से 6 फुट ऊंची होती है। इसके अंदर अमूमन 7 से 12 पॉट होते हैं। एक पॉट का आकार लगभग 2 फुट से 3 फुट व्यास और 3 फुट से 4 फुट तक गहरा होता है। इस तरह की पॉट वाली भट्ठियां किसी-किसी कारखाने में एक से अधिक होती हैं।

झलाई-जुड़ाई के बाद कुछ चूड़ियों पर पकाई नहीं की जाती। जुड़ाई के बाद चूड़ियां सीधी ज़री की डिजाइनिंग के लिए चली जाती हैं। एक पतली कलम के ज़रिए किसी चिपकाने वाले घोल से ज़री के मोती, पत्ती आदि चूड़ियों पर चिपकाते हैं। इसके बाद पैकिंग के लिए गोदामों में भेज दी जाती हैं।

मोटी चूड़ियों से कड़े बनाने के लिए झलाई और जुड़ाई करने के बाद गर्मी देकर नरम करते हैं। नरम होने पर चिमटी से दोनों ओर से थोड़ा-थोड़ा कांच खींचकर आकार देते हैं। बाद में डिजाइन के लिए भेज देते हैं।

इस प्रकार जगह-जगह से चूड़ियां बनकर यानी तैयार होकर गोदामों में पहुंचती हैं। वहां से तोड़े बना-बनाकर बिक्री के लिए बाज़ार में पहुंचते रहते हैं।

वैसे तो चूड़ियों के बाज़ार और गोदाम पूरे नगर में जगह-जगह पर हैं फिर भी पुरानी मंडी, चौकी गेट, छतरीवाला कुआं, चंद्रवार गेट, इमामबाड़ा चौराहा, सदर जामा मस्जिद, बौराहन गली, सदर, शास्त्री मार्केट, चंद्रशेखर मार्केट, जलेसर रोड, इमामबाड़े का छोटा चौराहा आदि प्रमुख हैं।

कांच के विभिन्न आइटम बनाने वाले हज़ारों कारखाने हैं नगर में,



फैंसी चूड़ियां

लेकिन चूड़ियां बनाने वाले लगभग 180 कारखाने हैं। पकाई करनेवाली भट्ठियां हजारों की संख्या में नगर से लेकर गांवों तक फैली हैं। कटाई करने वाले पत्थर सिल्लियों वाले कारखाने भी हज़ारों की संख्या में हैं। झलाई, जुड़ाई का काम तो घर-घर में होता है। इसी प्रकार सलाई और डिजाइनिंग का काम भी घर-घर होते देखा जा सकता है।

चूड़ी के काम में सबसे अधिक मज़दूरी उन कारीगरों को मिलती है जो बत्तीवाले कारखानों में काम करते हैं। इनकी मज़दूरी प्रतिदिन दिहाड़ी पर होती है। इन मिलों में सबसे अधिक मज़दूरी इसलिए होती है कि कारीगरों को 1200 डिग्री सेंटीग्रेड ताप पर गर्म होती भट्ठियों तथा अन्य छोटी-छोटी कई भट्ठियों के बीच भयंकर गर्मी में काम करना पड़ता है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। कांच की भट्ठियों पर काम करने वाले कारीगरों को 250 रुपये से 400 रुपये प्रतिदिन की मज़दूरी मिलती है। इससे भी अधिक

बेलन घुमाने वालों को 500 रुपये से 650 रुपये प्रतिदिन मिलते हैं। बेलनवाले को दोहरी परेशानी सहनी पड़ती है। गर्मी में रहते हुए तेज़ गति से शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इसलिए वह 2 घंटे काम करके 2 घंटे आराम करता है। इसके बाद गुल्ली का काम करने वाला, घुंडेवाला, लोम बनाने वाला, ठंडी बत्तीवाला, मशीन पर कांच का अंश फेंकने वाला, पानी पिलानेवाला, बघारा करने वाला आदि की दैनिक मज़दूरी 80 रुपये से 160 रुपये के बीच होती है।

पूरे नगर और गांव में बिखरे बहुतायत कारीगरों में कलात्मक तथा विशेष कार्य किया जाता है। इनमें कारीगर प्रति सैकड़ा तोड़े के हिसाब से काम करता है। एक तोड़े में 360 चूड़ियां होती हैं। सलाईवाले, जुड़ाईवाले, पकाईवाले, पॉलिशवाले आदि को अमूमन 100 रुपये से 150 रुपये प्रतिदिन की मज़दूरी पड़ती है। हिल्लवाले को तो इनसे भी कम मज़दूरी मिलती है, लेकिन कटाई करनेवाले 300 रुपये से 600 रुपये तक प्रतिदिन कमा लेते हैं। पत्थर की सिले से और चूड़ियों के टूटने से कारीगरों के हाथ की अंगुलियां लहूलुहान यानी चोटिल बनी रहती हैं। शारीरिक कष्ट उठाना पड़ता है। फैंसी चूड़ियों का काम करनेवालों को भी लगभग यही मज़दूरी पड़ती है।

जिन कारखानों में 1200 डिग्री सेंटीग्रेड के ताप पर भट्ठियां गर्म रहती हों और पिछले कांच से चूड़ियां बनाई जाती हैं, उनमें छोटी-मोटी घटनाएं अमूमन होती रहती हैं। कभी-कभी बड़ी घटनाएं भी घट जाती हैं। मुहम्मद आदिल का कहना है—चूड़ियों का मुट्ठा उलटते समय इस्लाम की आंख में चूड़ी टूटकर लगने से पुतली फट गई थी। पहले सरकारी अस्पताल में इलाज हुआ फिर प्राइवेट में। डाक्टर ने एक महीना आराम करने को कहा था। एक घटना 12 वर्षीय अजयबिन की थी। चिमनी गिरने से उसके सीधे हाथ में चोट आ गई थी। उसकी भी मिल-मालिक ने कोई देखभाल नहीं की।

कारखानों में वर्षों से काम करते आ रहे कारीगरों के साथ दैनिक मज़दूर की तरह सलूक किया जाता है। यादराम का कहना था—दस-दस, बारह-बारह वर्ष से लगातार काम करते आ रहे कारीगरों को मस्टर रोल में नहीं चढ़ाया जाता यानी कि कारीगरों से फार्म नं. 12 नहीं भरवाया जाता। इस तरह कारीगरों को जब चाहें तब निकाला जा सकता है। बाहर से कारीगरों को लाने का काम मिल का प्रबंधक करता है। कहीं-कहीं जगइया के माध्यम के कारीगर मिल में रखे जाते हैं। इन सब बातों से यही पता चलता है कि कारीगरों के साथ मिल-मालिकों का रवैया अधिकतर बर्बरतापूर्ण होता है जबकि फ़िरोज़ाबाद के उपक्रम आयुक्त, असिस्टेंट लेबर कमिश्नर तथा लेबर इंफोर्समेंट ऑफिसर का कहना था, "कार्य करते समय मिल में किसी कारीगर के चोट लग जाने पर मिल-मालिक पूरा इलाज कराता है और जब तक कारीगर काम करने योग्य नहीं हो जाता, आर्थिक सहयोग भी देता है।"

तार खींचने वालों की आंखों की रोशनी सबसे पहले जाती है। इसके अलावा 1200 डिग्री सेंटीग्रेड पर दहकती भट्ठियों के बीच काम करने वाले कारीगरों के फेफड़ों पर असर पड़ता है और वे यह काम लंबी आयु तक नहीं कर सकते। बीमार हो जाने पर न मिल-मालिक सहायता करता है और न सरकार की ओर से कोई सहयोग किया जाता है। चूंकि कारीगर का काम दिहाड़ी पर दिखाया जाता है, स्वस्थ होने पर उसे मिल-मालिक रखे या न रखे, उसके ऊपर निर्भर होता है। इस उद्योग से करोड़ों रुपये कमानेवाली सरकार भी कारीगरों के लिए कोई कारगर कदम नहीं उठाती। ❑

संपर्क : 1271, गली संगतराशन, पहाड़गंज, नई दिल्ली-110055



स्त्री-विमर्श : नया प्रश्न नई चुनौतियां

वंदना कुमार
छनेश्वरी साहू

स्त्री-विमर्श पितृसत्ता के लिए सबसे गंभीर चुनौती है, क्योंकि वर्चस्ववाद के विरोध में ही इसका जन्म और विकास हो रहा है। आज तक स्त्री ने पितृसत्ता को आत्मसात् किया हुआ था। वह उस प्रभुत्व द्वारा अनुकूलित, नियंत्रित थी। स्त्री-विमर्श ने ही स्त्रियों के भीतर यह चेतना पैदा की कि उनको वाणीहीन, स्वत्वहीन क्यों किया जा रहा है ? उनका स्वतंत्र अस्तित्व क्यों नहीं है ? परिवार का अनुशासन उन्हें ही क्यों अनुशासित करता रहा है ? परिवार स्त्री का खुला दमन क्यों करता है ? स्त्रियां आर्थिक धरातल पर आत्मनिर्भर होकर भी परिवार में दबी-कुचली क्यों हैं ? क्या आर्थिक स्वतंत्रता ने उन्हें मानसिक तौर पर स्वतंत्र बनाया है? स्त्री-विमर्श में ऐसे असंख्य प्रश्न हैं जिनमें स्त्री मुक्ति का संदेश छिपा है। अब स्त्री लेखिकाएं अपने अस्तित्व, अस्मिता के बारे में सोचने लगी हैं। अपने शरीर पर अंकित असंख्य बेड़ियों के निशानों, घावों को भी पहचानने लगी हैं। जब गुलाम में अपनी बेड़ियों का एहसास पैदा हो जाता है तो वह अपनी बेड़ियां काट लेता है। ठीक यही बात स्त्रियों पर भी लागू होती है कि जिस दिन स्त्रियां अपनी गुलामी की असंख्य, अदृश्य बेड़ियों, ज़ंजीरों को पहचान लेंगी तो वह दिन भी दूर नहीं जब वे पितृक जकड़बंदी से मुक्त होकर अपने अधिकारों के बारे में सोचेंगी।

स्त्री-विमर्श एक ऐसा आंदोलन है जो पुरुष-प्रधान समाज में नारी द्वारा अपने स्वाभिमान, अधिकार, स्वतंत्रता व अस्मिता की तलाश में जारी एक संघर्ष को दिखाता है। यह विरोध किसी एक पुरुष-प्रधान समाज के लिए है जो मान्यताओं और रूढ़ियों के चलते स्त्री को समानता का अधिकार प्रदान नहीं करता।

'स्त्री-विमर्श' शब्द को सही ढंग से समझने के लिए इसे सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त करना पड़ेगा। 'स्त्री' और 'विमर्श'। 'स्त्री' वैदिक संस्कृत शब्द है। 'ऋग्वेद' (4, 6, 7) में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। 'स्त्री' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार, "स्त्री–सूत्री, जन्मदात्री अर्थात् वह परिवार जिसका सूत्रधारक है इसलिए स्त्री कही जाती है।" 'स्त्री' शब्द 'सत्य' धातु से बना है जिसका तात्पर्य लज्जायुक्त होना बताया गया है। पाणिनी ने सत्ये का अर्थ शब्द करना लिया। पतंजली ने कहा "नारी को स्त्री इसलिए कहा जाता है कि गर्भ की स्थिति उसके भीतर होती है। उनकी एक दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार, "शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का समुच्य स्त्री है। पुरुष की ज्ञानेन्द्रियों की तृप्ति नारी से होती है इसलिए उसे नारी कहा जाता है।" "पति को सम्मान करने वाली अथवा पूज्य होने के कारण नारी को महिला भी कहा जाता है, "मह् इलच् आ त्र महिला" 'मह्' का अर्थ है पूजा। पूज्य होने के कारण स्त्री का महिला नाम पड़ा। भोलानाथ तिवारी के अनुसार, "स्त्री के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द अबला, औरत, इस्तिरी, कबीला, कलत्र, कांता, कामिनी क्षेत्र, गृहिणी, धरणी, चरणदासी, चोषा, जनिया, जबी, जोय, जोरू, जोतिषा, तन, तिय, तिरिया, तीदार, तीथ, त्रिया, दारा, नारी, प्रतिदर्शिनी, बनिता, बर्ना, बाला, बैथर, भामा, भामिनी, महिला, मादा, मानवी, योषो, योषिता, ललना, लुगाई, वश्निा, श्यामा, सारंग है।"

अंग्रेज़ी में स्त्री का पर्यायवाची शब्द 'वूमन' (WOMAN) या 'फ़िमेल' (FEMALE) बताया गया है नारी के लिए सबसे अधिक प्रचलित शब्द 'स्त्री' है। वैदिक साहित्य में यह प्रचलित हो चुका है। 'ऋग्वेद' में नारी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। पर यज्ञ के अर्थ में 'नार्यः' शब्द का प्रयोग ज़रूर मिलता है। 'नारी' शब्द 'नृ' अथवा 'नर' से बना है। यास्क ने 'नर' शब्द को 'नृत' नाचना से बनाया है। 'ऋग्वेद' में 'नृ' शब्द का अर्थ है वीरता का काम करना, दान देना और नेतृत्व करना। 'नर' शब्द का प्रयोग भी वीर, दाता और नेता के अर्थ में हुआ है। स्त्री का नाम भी इन्हीं विशेषताओं के कारण पड़ा होगा। वे युद्ध और शिकार में वीरों की सहायिका रही होंगी और अतिथियों एवं भिक्षुओं के सत्कार, दान आदि का भार इन्हीं पर था। इसी तरह कन्या शब्द की व्युत्पत्ति को यास्क ने 'कमु' धातु से निरुपन्न करते हुए कन्या को सब प्राणियों द्वारा चाही जाने वाली कहा है।

वैदिक काल में कन्या और पुत्र में भेद नहीं था। यह भेद बाद में पैदा हुआ है। स्त्री के जो नाम प्रचलित हैं उनमें वामा, अबला, सुंदरी, प्रमदा, ललना, मानिनी प्रमुख हैं, "जो स्त्री सौंदर्य बिखेरती है वह वामा है। जिस स्त्री में शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक गुण अधिक होता है, उसे अबला कहते हैं। जिसे देखते ही मन आकर्षित हो जाए वह सुंदरी कहलाती है। हल्के से हल्के भाव से पुरुष को उत्तेजित कर देने की विशेषता रखने वाली स्त्री प्रमदा कहलाती है। जिस स्त्री में लालसा या इच्छा अधिक होती है वह ललना कहलाती है। क्षण-क्षण में रूठने और मानने वाली मानिनी कहलाती है।" उपनिषदों में स्त्री के वैदिक स्वरूप को पहली बार बदला गया। स्त्री-पुरुष के संबंध को अन्योन्याश्रित सिद्ध करने की परंपरा का श्रीगणेश उपनिषदों से हुआ।

'विमर्श' शब्द का सामान्य अर्थ है 'बातचीत करना'। विमर्श को विशिष्ट उत्तर आधुनिकता के संदर्भ में अंग्रेज़ी के 'डिस्कोर्स' के समनार्थक के रूप में प्रचलित किया गया। डिस्कोर्स के साथ 'पावर' एवं 'नॉलेज' दोनों शब्द इसको बहुआयामी अर्थ प्रदान करते हैं। फादर कामिल बुल्के ने अपने अंग्रेज़ी-हिंदी कोश में डिस्कोर्स के लिए भाषण, प्रवचन, ग्रंथ, निबंध आदि समानार्थी शब्दों का प्रयोग किया है। क्रिस बार्कर के शब्दों में "विमर्श ज्ञान की वस्तुओं का बोधगम्य तरीके से परिकल्पना करता है, निर्माण करता है, साथ ही तर्क के नए तरीकों को अवबोधगम्य बनाता है।"

स्त्री-विमर्श एक ऐसा आंदोलन है जो पुरुष प्रधान समाज में नारी द्वारा अपने स्वाभिमान, अधिकार, स्वतंत्रता व अस्मिता की तलाश में जारी एक संघर्ष को दिखाता है। यह विरोध किसी एक पुरुष-प्रधान समाज के लिए है जो मान्यताओं और रूढ़ियों के चलते स्त्री को समानता का अधिकार प्रदान नहीं करता। गिरीश रस्तोगी के अनुसार, "स्त्री-विमर्श एक नाजुक और गंभीर विषय है। इसे लेकर दो दशकों से अलग वैचारिकता बन रही है। इसमें कई बातें एक साथ आती हैं। एक तरफ़ चिंतन है जिसे वैचारिक दर्शन या

सैद्धांतिक लेखन कह सकते हैं। दूसरी तरफ़ नारी चेतना का प्रसंग है, नारी संगठन या नारीवादी आंदोलन है। वह एक बिल्कुल अलग स्तर पर वह चीज़ है, जो बहुत पहले से चली आ रही है। तीसरे स्तर पर वह लेखन है, जहां रचनाकार क्या सोचता है, क्या करता है, किस तरह भाषा से अपनी बात कह लेता है। रचनाकार अपने लेवल पर अपनी तरह से सोचता है और कहता है। ये धरातल स्त्री को अलग-अलग तरह से केंद्रित करते हैं। उनके अनुभव भी भिन्न होते हैं।"

उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा, क्योंकि इस सदी में सारी दुनिया में उनकी अच्छाई-बुराई, प्रवृत्ति, क्षमताएं एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस का विषय थे। यूरोप में फ्रांसीसी क्रांति के दौरान और उसके बाद भी स्त्री जागरूकता का विस्तार होना शुरू हुआ और शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के बुद्धिजीवियों ने नारीवादी विचारों को अभिव्यक्ति दी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक रूसी सुधारकों के लिए महिला प्रश्न एक केंद्रीय मुद्दा बन गया था, जबकि भारत में ख़ासतौर से बंगाल और महाराष्ट्र में समाज-सुधारकों ने स्त्रियों में फैली बुराइयों पर आवाज़ उठाना शुरू किया। इन दोनों राज्यों से ब्रितानियों का संबंध भारत के अन्य राज्यों की अपेक्षा पहले बना।

अठारहवीं शताब्दी में बंगाल में आई ईस्ट इंडिया कंपनी के ज़रिए लोगों ने ब्रितानियों के बारे में जाना। व्यापारिक रिश्ते बढ़ते-बढ़ते प्रभुत्व और शासन में तब्दील हो गए तथा ब्रितानियों और भारतीयों के बीच पनपे मतभेद स्पष्ट दिखाई देने लगे। मैत्रेयी पुष्पा स्त्री-विमर्श के संबंध में कहती हैं—"स्त्री-विमर्श की शुरुआत की जब हम बात करते हैं तो हिंदी साहित्य में महादेवी वर्मा से मान सकते हैं। "यदि 'शृंखला की कड़ियां' न लिखी होती तो आज वे अप्रासंगिक हो जातीं। 'सीमांतनी उपदेश' लिखने वाली अज्ञात हिंदू औरत कौन थी ? अपना नाम किस डर से नहीं दिया, मगर डर के बावजूद वह प्रखर लेखन स्त्री-विमर्श की शुरुआत कही जा सकती है।" उसी 'शृंखला की कड़ियां' को समझने में औरतों को वक़्त नहीं लगा मगर कहने का साहस जुटाने में कई वर्ष लग गए। "आज़ाद भारत में औरतों के लिए लागू सामंतशाही का खुलासा होते ही प्रबुद्ध लोग हमारे घोषणा पत्र को स्त्री-विमर्श कहकर ऐसे थूंक छोड़ते हैं, जैसे कोई गाली दी हो। स्त्री-विमर्श को नीची निगाह से देखते हैं।"

पुरुष और स्त्री सामाजिक सिक्के के दो पहलू हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। आज स्त्री ने अपनी शक्ति को पहचानना शुरू कर दिया है, जिस कारण पुरुष वर्चस्व वाला समाज भयातीत हो गया है। स्त्री को पीछे धकेलने के लिए 'वेद', 'पुराणों' की दुहाई देकर उसकी स्थिति को पुनः स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।

पुरुष वर्चस्व वाले समाज में बड़ी चालाकी से नारी को संपत्ति और सत्ता के उत्तराधिकार से वंचित कर दिया गया। वह पिता के विरासत का एक हिस्सा बनकर रह गई थी। रूढ़ियां इस क़दर बढ़ीं कि कन्या का जन्म बोझ समझा जाने लगा, उसके जन्म के साथ ही हत्या का प्रचलन शुरू हो गया, उससे जीने का अधिकार तक छिन लिया गया। भ्रूण-हत्या उसी का विकसित रूप है। तसलीमा नसरीन का मानना है, "स्त्री को डराना और लज्जालु होना पुरुष प्रधान समाज ने सिखाया है, क्योंकि भयभीत एवं लज्जालु रहने पर पुरुषों को उस पर अधिकार जताने में सुविधा होती है। इसलिए डर और लज्जा को 'स्त्री' कहा जाता है, समाज में कुछ ही लोग होंगे जो निर्भीक और लज्जाहीन स्त्री को बुरा नहीं कहते हों।" हिंदी साहित्य में नवजागरण की नई-नई झोकें आईं, किंतु पुरुष वर्ग इन हवा के झोकों से स्त्रियों को बचाते हुए उन्हें समानता देने से इन्कार करता रहा। हिंदी के नवजागरण का पुरुषों का आधा-अधूरा नवजागरण था। जिन महावीर प्रसाद द्विवेदी को हिंदी नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है वे भी नारी जागरण के पक्षधर नहीं थे। 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन संभालते ही उन्होंने 'जापान की स्त्रियां' (सरस्वती : संख्या । सन् 1905, पृ. 21) लेख लिखकर स्त्रियों के लिए मनुवादी व्यवस्था का समर्थन किया, "जापान की स्त्रियां शिक्षित हैं पर लड़कपन में अपने माता-पिता की आज्ञा में रहती हैं, विवाह हो जाने पर पति की आज्ञा में रहती हैं और पुत्र हो जाने पर पुत्र की आज्ञा में रहती हैं, पति की हृदय से सेवा करती हैं।"

"यहां महावीर प्रसाद द्विवेदी अस्पष्ट रूप से 'आज्ञा' को स्त्री पर थोपते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे प्रगतिशील विद्वान भी इस रूढ़ी से मुक्त नहीं हो पाए हैं। उनका कथन है—"जो शिक्षा स्त्रियों को मेम व निर्लज्ज बना दे वह शिक्षा नहीं वरन कुशिक्षा है। स्त्री का मुख्य उद्देश्य नम्र, सहिष्णु और शांत बनना, गृह कार्य में दक्ष रहना तथा उचित-अनुचित का ज्ञान पैदा करना है। जो शिक्षा निर्लज्ज बनाती है, उसके हम विरोधी हैं।"

थेरी गाथाओं की तरह ही जब-जब स्त्री को अपनी बात कहने का मौका मिला है उसने निडरता से अपनी पीड़ा व्यक्त की है। मध्यकाल में ही मीराबाई, सहजोबाई, जनाबाई, रामी, महादेवी अक्का, सूले सनकवा, जंगासती, रतनबाई, आतुकुरी मौल्ला, बहिनाबाई, गुलबदन बेगम, चौन्द्रबौती, संथिया होनम्मा आदि वे स्त्रियां हैं जो पूरे भारत की हैं। अपनी-अपनी भाषा

पश्चिमी राष्ट्रों में आज स्त्री की स्थिति सुदृढ़ दिखाई देती है, लेकिन आरंभिक समय में पश्चिमी नारी उतनी स्वतंत्र नहीं थी। मनुष्य की आदिम अवस्था से लेकर मध्ययुग तक नारी विभिन्न नियमों में बंधी हुई थी। मध्य युग अर्थात् अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते पाश्चात्य स्त्री को अपने अस्तित्व की पहचान होने लगी और वह अपनी मुक्ति के लिए अनवरत प्रयासरत है जिससे सारे विश्व में स्त्री-मुक्ति आंदोलन की एक लंबी परंपरा दिखाई देती है।

में इन्होंने अपने-अपने दुःख व्यक्त किए। मीराबाई ने यदि राजमहल छोड़ दिया तो दूसरी ओर चौदहवीं-पंद्रहवीं सदी में गुजराती में गंगासती व रतनबाई और मराठी में जनाबाई ने समाज में व्याप्त रूढ़ियों के ख़िलाफ़ विद्रोह किया। जहां पुरुष रचनाकार इस लोक को छोड़कर परलोक के सपने देखते थे वहीं स्त्री रचनाकारों ने इसी लोक में व्याप्त रूढ़ियों के ख़िलाफ़ मोर्चा खोल दिया, क्योंकि इन रूढ़ियों का सबसे पहला शिकार वे ही होती थीं। बंगाल में रामा निम्न जाति में पैदा हुई, लेकिन उन्हें वैष्णव कवि चंडीदास से प्रेम हो गया। उनकी रचनाओं में उनकी प्रेमकथा के अलावा समाज में फैली जातिप्रथा की घोर आलोचना मिलती है। इसी तरह जनाबाई शूद्र थीं। सात साल की उम्र से ही वे एक घर में दासी का काम करती थीं।

पश्चिमी देशों में नारी को घर से बाहर लाने में औद्योगिक क्रांति का बहुत बड़ा हाथ है। स्त्रियों को कारखानों और मिलों में काम करना पड़ा। बाद में उनका वहां शोषण किया जाने लगा। काम की स्थितियां और भी खराब होने लगीं तो इसके विरुद्ध आवाज़ उठानी शुरू की। कठोर परिश्रम के बावजूद उन्हें कम आमदनी पर काम करना पड़ता था। स्त्रियों की हैसियत पुरुषों से कमतर होती थी। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले लोगों तथा उत्पादन के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचने वालों के बीच विभाजन पूंजीवादी समाज में वर्गों का प्रस्थान बिन्दु है। इससे स्पष्ट है कि पितृसत्ता के ठेकेदार

पूंजीपति स्त्रियों का शोषण कर रहे थे। क्रांतियों से प्रेरित होकर विविध देशों में लोकतांत्रिक प्रणाली का विकास होने लगा। इस विकास के साथ ही जनता के प्रतिनिधित्व व मताधिकार की मांग प्रबल हो उठी जो कालांतर में स्त्री आंदोलन का सबसे प्रमुख अंश बन गई। राज्यक्रांति की वास्तविकता की ओर ईशारा करते हुए राजकिशोर कहते हैं "फ्रांस की राज्य क्रांति के जनक रूसो ने स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का जो नारा दिया, वह वस्तुतः पुरुष समाज के लिए ही था, नवयुग के उस महास्वप्न में स्त्रियां कहीं नहीं थीं।" इस क्रांति से स्त्रियों को अपने अधिकार मांगने की प्रेरणा ज़रूर मिली। उस समय पूरी पश्चिमी दुनिया आर्थिक सामाजिक संकट और उथल-पुथल के दौर से गुज़र रही थीं। लगभग सभी तबक़े के लोग सड़कों पर उतर आए थे। वियतनाम, क्यूबा जैसे छोटे-छोटे देशों की क्रांति या संघर्ष ने पश्चिम के युवाओं को काफ़ी प्रभावित किया था। इन सब संघर्षों में महिला की भागीदारी भी पहली बार बड़े पैमाने पर हो रही थी। सामाजिक, राजनैतिक सक्रियता के दायरे में बढ़ी हुई इस भागीदारी ने महिला को दोयम दर्जे की नागरिकता के ख़िलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित किया।

पश्चिमी राष्ट्रों में आज स्त्री की स्थिति सुदृढ़ दिखाई देती है, लेकिन आरंभिक समय में पश्चिमी नारी उतनी स्वतंत्र नहीं थी। मनुष्य की आदिम अवस्था से लेकर मध्ययुग तक नारी विभिन्न नियमों में बंधी हुई थी। मध्य युग अर्थात् अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते पाश्चात्य स्त्री को अपने अस्तित्व की पहचान होने लगी और वह अपनी मुक्ति के लिए अनवरत प्रयासरत है। जिससे सारे विश्व में स्त्री-मुक्ति आंदोलन की एक लंबी परंपरा दिखाई देती है। "सामाजिक पराधीनता, पुरुष अधीनता, प्रचलित आदर्श, विश्वासों, मान्यताओं व मूल्यों के बंधन से नारी को मुक्त करने का प्रयास ही नारी मुक्ति आंदोलन है।"

समकालीन भारतीय महिला आंदोलन का इतिहास काफी संपन्न है, लेकिन अभी तक उससे संबंधित लिखित दस्तावेज़ अपूर्ण ही हैं। समकालीन महिला आंदोलन की जड़ें बुद्ध के समय में देखी जा सकती हैं जब सुमंगला माता और भुट्टा ने घर-गृहस्थी और समाज के जंगल को त्यागकर भिक्षुणी बनने का निर्णय लिया। महाभारत में द्रौपदी की दंतकथा का उदाहरण हमारे सामने है जब उसने शत्रु के राजदरबार में अपने पांच पतियों को चुनौती दी थी। मीराबाई और महादेवियक्का का उदाहरण भी हमारे सामने है जिन्होंने समाज के बंधनों को तोड़कर सड़कों पर भक्ति-गीत गाए और हमारे कविता और संगीत की एक समृद्ध वसीयत छोड़ी। महिला आंदोलन को 19वीं सदी के मध्य में छत्तीसगढ़ की आदिवासी महिलाओं का पूंजीवाद विरोधी संघर्ष में भी देख सकते हैं। आंदोलन को सावित्रीबाई फूले की स्त्री शिक्षा और स्वास्थ्य संघर्ष में, विधवाओं के पुनस्थापन में, राजा राममोहन राय के सती प्रथा के विरोध में, 1920-30 व 40 के दशकों में गांधी, मार्क्स के क्रांतिकारी आंदोलनों में, तेलंगाना और तैभागा की किसान महिलाओं के संघर्ष में भी देख सकते हैं।

आज सारी दुनिया में स्त्री की पहचान की जद्दोजहद है। स्त्री की अस्मिता को केंद्र में लाने का श्रेय महिला आंदोलनों को जाता है। महिला आंदोलन के संघर्षों और कुर्बानियों का ही नतीजा है कि स्त्रियां आज गर्व के साथ अपने हक़ की लड़ाई लड़ रही हैं। एक ज़माना था स्त्रियां चुप थीं। आज स्त्री ने चुप्पी तोड़ने का बीड़ा उठा लिया है। स्त्री-अस्मिता के संघर्ष को प्रभावी बनाने के लिए ज़रूरी है कि स्त्रियां बोलें, लिखें और एक मनुष्य और एक स्त्री के रूप में अपनी स्थिति जानें, उसे बदलें और नए विकल्प का निर्माण करें। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद नवजागरण काल में होने वाले आंदोलनों से न केवल राजनैतिक वरन् सामाजिक चेतना भी जागृत हुई। तत्कालीन समाज-सुधारक राजा राममोहन राय (ब्रह्म समाज), स्वामी दयानंद

आज सारी दुनिया में स्त्री की पहचान की जद्दोजहद है। स्त्री की अस्मिता को केंद्र में लाने का श्रेय महिला आंदोलनों को जाता है। महिला आंदोलन के संघर्षों और कुर्बानियों का ही नतीजा है कि स्त्रियां आज गर्व के साथ अपने हक़ की लड़ाई लड़ रही हैं।

सरस्वती (आर्य समाज) आदि के प्रयत्नों के परिणामतः स्त्री को समाज में पहली बार अपने स्वतंत्र अस्तित्व का एहसास हुआ। शिक्षा और सार्वजनिक अधिकार जैसे विषयों को उसने अपना कार्यक्षेत्र चुना। स्त्री अब सामाजिक रूढ़ियों और परंपराओं को त्यागकर पुरुष के अनुचित एकाधिकार को नष्ट करने के लिए तैयार हो गई। संविधान के हर क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति का समान मूल्य निर्धारित किया गया और इसी क्रम में स्त्री का भी स्वतंत्र और गौरवपूर्ण स्थान स्वीकार किया गया।

मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। उनका स्त्रीत्व तीन बार के तलाक (संबंध-विच्छेद) कहने और मेहर की रकम अदा कर देने भर में ही है। हिंदुओं में सबसे बड़ी कुप्रथा के रूप में सती प्रथा थी जिसमें पति की मृत्यु पश्चात पत्नी को ज़बरदस्ती सती के नाम पर जला दिया जाता था। जो स्त्रियां सती होने से इंकार करती थीं उन्हें जबरन चिता पर बैठा दिया जाता था और शमशान घाट पर नगाड़े इतने ज़ोर से बजाए जाते थे कि स्त्रियों के रोने-चिल्लाने की आवाज़ उसमें दब जाए।

19वीं शताब्दी में पाश्चात्य शिक्षा से प्रोत्साहित होकर राजा राममोहन राय, ज्योतिबा फूले, ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसे अनेक समाज सुधारक सामाजिक बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकने में प्रयासरत रहे और आशातीत सफलता प्राप्त की। रवींद्रनाथ टैगोर, स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी जैसे विचारकों ने पुरुष व स्त्रियों की समानता का पक्ष लिया तथा उन्हें स्वतंत्रता आंदोलन में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। स्त्री को परंपरागत ढंग से मुक्त करने में एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू, विजय लक्ष्मी पंडित, रमा बाई जैसे विदूषी महिलाओं के योगदान को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। पुरुषों के साथ स्त्रियों के कानूनी अधिकारों की समानता का मुद्दा महत्वपूर्ण था, वहीं यह भी माना गया कि स्त्री और पुरुष को समान समझते हुए उन्हें एक जैसा आदर दिया जाना चाहिए, नारी आंदोलन विषमता का मुद्दा महत्वपूर्ण बना रहा। यह बहस भी चली कि स्त्रियों के सांगठनिक ढांचे का स्वरूप और उसकी कार्यप्रणाली से भिन्न होनी चाहिए, क्योंकि पूर्ववर्ती ढांचा सामंती, सत्ता आधारित और पुरुष वर्चस्ववाला था और इस आधार पर हमारे नए ढांचे में हमारे काम करने के तौर-तरीकों में स्त्री मूल्य, शिष्टाचार और जिम्मेदारी परिलक्षित होना चाहिए। "स्त्रियों के सरोकारों से संबंधित ऐसे अनेक मुद्दे जो उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आंदोलन का आधार बने, उनमें से प्रारंभिक दो आंदोलन समान विचारों वाले लोगों द्वारा शुरू किए गए परंतु वे अलग-अलग तरह से विकसित हुए। जैसे कि हमें मालूम है, स्त्रियों को शिक्षित करने के महत्व पर सबसे पहली सार्वजनिक बहस राजा राममोहन राय द्वारा 1815 में स्थापित आत्मीय सभा द्वारा बंगाल में छेड़ी गई।"

किसी भी समाज की सामाजिक व्यवस्था ही समाज की उन्नति-अवनति का कारक होती है। व्यवस्था बदलेगी तभी समाज बदलेगा, समाज की सोच बदलेगी तो स्त्रियों की दशा बदलेगी।

किसी भी देश की वास्तविक प्रगति को जानने के लिए वहां की महिलाओं की स्थिति का आकलन अति आवश्यक है, क्योंकि महिलाओं के अधिकारों की अपेक्षा कर कोई भी समाज अपने को विकसित नहीं कर सकता

किसी भी समाज की सामाजिक व्यवस्था ही समाज की उन्नति-अवनति का कारक होती है। व्यवस्था बदलेगी तभी समाज बदलेगा, समाज की सोच बदलेगी तो स्त्रियों की दशा बदलेगी।

है। आज भी भारतीय महिलाओं ने विश्व-स्तर पर लगभग सभी क्षेत्रों में खुद को स्थापित किया है। आधी दुनिया यानी भारतीय महिलाओं के विकास की ओर बढ़ते कदम आज पूरी दुनिया के लिए मिसाल बन चुके हैं। आज भारतीय नारियों ने देश-दुनिया के हर क्षेत्र में अपना सम्मानित स्थान बनाया है और इनके लिए सरकार पूरी सक्षमता से इनके साथ खड़ी है।

वस्तुतः सदियों शोषण, उत्पीड़न एवं अन्याय का शिकार रही भारतीय महिला में जगी चेतना अथवा पुरुष वर्ग के प्रति उमड़ा नस्ली-लैंगिक विद्रोह कोई स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रिया नहीं वरन् परिस्थितियों की देन है। यह अपमान से विद्रोह तक की विकास यात्रा है जिसमें परिवर्तन और क्रांति के बीज हैं, लेकिन जिसका अभी क्रांतिकारी शक्ति-पुंज बनना शेष है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आने वाले युग में नए समाज का पुनर्संगठन, जाग्रत नारी समुदाय के अभाव में अकल्पनीय होगा। चूंकि भावी समाज का चरित्र युवा शक्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि युवा मानस में उन्ही मूल्यों, विचारों तथा आदर्शों को पुनः प्रतिष्ठापित किया जाए जो साम्राज्यवाद विरोधी मुक्ति संग्राम तथा नव जागरण के दौरान पुनरुत्थानवादियों के लिए मूलमंत्र की भूमिका निभा रहे थे।

मीडिया में स्त्रियों की बदलती छवियों के बारे में अक्सर सुनाई देता है कि मीडिया ने भारतीय स्त्रियों की छवि को तहस-नहस कर दिया है। विज्ञापनों में स्त्रियों का ओवर एक्सपोज़र हो रहा है। यह इस बात का सूचक है कि मीडिया ने न सिर्फ स्त्री को भोग की वस्तु बनाया है, बल्कि रिश्तों की गरिमा को भी नष्ट कर दिया है। पश्चिम से आयातित स्त्री-छवि को मीडिया ने बड़े ही भद्दे रूप में प्रस्तुत किया और भारतीय समाज पर इसका प्रभाव उतने ही विस्तृत रूप में पड़ा है। यह इतिहास की विकास-यात्रा की विडंबना ही कही जाएगी कि जिस मीडिया ने जिस स्त्री को घर की देहरी से बाहर निकाला, उसी ने उसकी देह को बाज़ार के दौर में पुरुषों की असंयमित भोग-लिप्सा का माध्यम बना दिया। कुछ लोग इसे मीडिया की क्रांतिकारी भूमिका कहते हैं। स्त्री ने जहां से अपना संघर्ष आरंभ किया था, पुनः वहीं पहुंच गई है। मध्यकाल में वह वस्तु प्रायः समझी जाती थी, फिर उसने व्यक्ति के रूप में पहचान बनाने हेतु सतत् संघर्ष किया, किंतु आज एक बार फिर वह वस्तु प्रायः होने लगी है। दुखद बात तो यह है कि आज वह स्वेच्छा से स्वयं को वस्तु के रूप में प्रस्तुत कर रही है। आज स्त्री के शोषण का सबसे बड़ा अस्त्र है—सौंदर्यवाद। इसकी चपेट में आकर स्त्री पुनः दयनीय स्थिति में पहुंच गई है। "बहुत कम स्त्रियों को इस बात का अहसास है कि स्त्री-मुक्ति एवं स्त्री-सौंदर्य के बीच एक गहरा विरोधी रिश्ता है। रिश्ता जिससे स्त्री-मुक्ति के वर्षों का आंदोलन कमज़ोर पड़ गया है। आज स्त्री अपनी देह मात्र में सिमट गई है।" विचारणीय बात यह है कि स्त्री की स्वतंत्रता क्या उसके देह की स्वतंत्रता मात्र है! ❑

संपर्क : वंदना कुमार : एल/क्यू 17, शासकीय नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय आवासीय परिसर, शिव मंदिर, रायपुर (छत्तीसगढ़)

छनेश्वरी साहू : एम.आई.जी. 2, मकान नं. 3, फेस-2, कबीर नगर, रायपुर (छत्तीसगढ़)

कविता : **रमेश प्रजापति**

तलाश

पक्षियो !
किसकी तलाश में तुम ?
सुबह-सवेरे
आ जाते हो अपने कुनबे के साथ
बनाकर झुंड के झुंड
एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर।

शाम होते ही फिर
लौट जाते हो
अपने घोंसलों की दिशा में
लौटते हैं जैसे
थके-हारे मज़दूर
प्रतीक्षारत घरों की ओर।

क्या तुम
सूरज के निकलने और डूबने के
संदेशवाहक हो ?

किसकी तलाश है तुम्हें?
ईश्वर न करे
यह तलाश कभी पूरी हो
तुम इसी तरह
रहो आते-जाते।

खुले आकाश में
जब उड़ते हो तुम
तो अंतःकरण में भर उठता है उल्लास,
और
अनंतकाल से उपजे
पृथ्वी और सूरज के बीच
रिश्ते पर
होने लगता है गुमान।

संपर्क : 20-सी, पॉकेट-बी, एल आई जी, डी डी ए फ्लैट्स, न्यू जाफ़राबाद, दिल्ली-110032

लोक संगीत और नृत्य का

अजयशंकर मिश्र

लोक—यानी लोग—यानी दुनिया जो अपनी है। इसीलिए मृत व्यक्ति को परलोक वासी कहा जाता है। क्योंकि, अब वह दूसरी दुनिया में वास करेगा। मृत्यु का भी परलोक गमन माना जाता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि लोक संगीत या नृत्य का अर्थ है—हमारा-हमारी दुनिया का संगीत-अर्थात् वह संगीत—जिसमें बाहरी हस्तक्षेप न हो। तात्पर्य यह कि वे संगीत-नृत्य—जो पारंपरिक रूप से जन-सामान्य में, सरल, सरस, सहज तथा भावनात्मक रूप से संचरित होते हों, लोक संगीत और नृत्य कहलाते हैं। इसीलिए लोक नृत्यों में मानव मन और समाज की उन्मुक्त भावनाएं स्वतंत्र तथा सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में स्वरों, शब्दों तथा भाव-भंगिमाओं के साथ गुंशकर मुखरित होती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि लोक गीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियां गाती हैं, फ़सलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परंपराएं गाती हैं। इनमें वर्णित विषय स्थानीय, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, शिक्षाप्रद, राष्ट्रीय आदि कुछ भी हो सकते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि लोक नृत्यों के माध्यम से आम लोगों की भावनाएं प्रदर्शित होती हैं। लोक नृत्यों के संदर्भ में यह समझना बहुत जरूरी है कि यह मात्र कृषक-संगीत या नृत्य नहीं है। जिस तरह लोकतंत्र में हर इंसान शामिल है, उसी तरह लोक संगीत और नृत्य में हर विषय...हरेक व्यक्ति की हरेक भावनाएं। दरअसल, जिस संगीत को हम सार्वभौमिक कहते हैं, अंतर्राष्ट्रीय भाषा कहते हैं, वसुधैव कुटुकबम् का माध्यम कहते हैं—वह लोक संगीत और लोक नृत्य ही है, शास्त्रीय नहीं। क्योंकि शास्त्र तो सबके अपने-अपने होते हैं। पं. ओंकारनाथ ठाकुर जैसे संगीत मार्तंड ने भी माना है कि—लोक संगीत के माध्यम से ही समस्त विश्व में मानवता, आत्मीयता और एकता की भावनाएं स्थापित की जा सकती हैं। लोक गीतों और नृत्यों के संबंध में एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह भी है कि ये दोनों एक-दूसरे से इतनी गहराई और आत्मीयता से जुड़े हैं कि इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता एक के अभाव में दूसरे की चर्चा अधूरी रहेगी।

लोक संगीत के माध्यम से मानवमन की भावनाएं लोक जीवन के सामान्य धरातल पर उतरकर आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण, हर्ष-विमर्श, प्रणय एवं कलह आदि के रूपों में व्यक्त होती हैं। लोक नृत्यों की इस में मानव जीवन के उस प्रारंभिक स्थिति के दर्शन होते हैं, जहां साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग, उल्लास, उत्साह, प्रेम, विरह, घृणा एवं क्रोध आदि भावों को प्रकट करने में जन-सामान्य द्वारा मान्य शिष्टाचार के बंधनों को नहीं अपनाता है। स्वछंद भावनाओं की स्वछंद अभिव्यक्ति लोक नृत्यों का परम लक्ष्य है।

किसी भी प्रदेश का लोक संगीत और नृत्य उस स्थान, वहां के वातावरण, रहन-सहन, पर्व-त्योहार और रस्मो-रिवाज़ को बखूबी प्रतिबिंबित करता है। कहीं के भी लोक संगीत और नृत्य का सूक्ष्मता से अध्ययन करके उस क्षेत्र विशेष के विषय में पूरी तरह जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए कश्मीर और लद्दाख के लोक नृत्यों को देखा जा सकता है। इन प्रदेशों के लोक नृत्यों में वह गतिशीलता नहीं दिखती है, जो पंजाब, हरियाणा, बिहार और उत्तर प्रदेश आदि के लोक नृत्यों में दिखती है। चूंकि कश्मीर और लद्दाख आदि क्षेत्रों में कड़ाके की सर्दी पड़ने के कारण वहां के लोग भारी-भरकम गर्म कपड़े पहने होते हैं जिससे उनके शरीर में वह फुर्ती नहीं रह पाती है, जो अन्य प्रदेशों के नर्तक-नर्तकियों में होती है। हिमाचल प्रदेश आदि जैसे पहाड़ी क्षेत्रों के लोक नृत्य भी धीमी गति में ही होते हैं, क्योंकि पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण वहां ऑक्सीजन की कमी महसूस होती है।

सामान्यतः लोक संगीत शब्द प्रधान होते हैं जबकि शास्त्रीय संगीत स्वर प्रधान। लोक संगीत में धुनों का प्रयोग होता है, जबकि शास्त्रीय संगीत राग आधारित होते हैं। कुछ एक अपवादों को छोड़ दिया जाए तो लोक संगीत और नृत्य दोनों ही प्रायः ऊर्जावान और गति प्रधान होते हैं, जबकि शास्त्रीय नृत्यों में लय का प्रवाह विलंबित से द्रुत की ओर जाता है। लोक गीतों और नृत्यों का अतीत अत्यंत समृद्ध रहा है। भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए लोक संगीत और नृत्य की ये विधाएं जैसे स्वतः सृजित हो जाती हैं। इसके लिए संगीतकारों को घंटों माथापच्ची करने की जरूरत नहीं पड़ती। कोई दृश्य सामने आता है ... कोई घटना घटती है ... और भावनाएं तरंगित हो उठती हैं ... मुद्राएं मचल उठती हैं ... पैर थिरकने लगते हैं ... और गीत, नृत्य बन जाते हैं।

ज्ञातव्य है कि आंचलिकता... की सीमा पार करके लोक संगीत की लोकप्रियता जब उस अंचल से ... और... बाहर जाने लगती है, तब उसमें कुछ सर्वमान्य विशिष्ट नियमों को बनाकर, उसे परिष्कृत करके उसका शास्त्र रचा जाता है, और उस शास्त्र की कसौटी पर जब वह गीत-नृत्य खरा उतरता है तो उसे शास्त्रीय की श्रेणी में रखा जाता है। ध्रुवपद, धमार, खयाल, ठुमरी, टप्पा आदि जैसी वर्तमान शास्त्रीय गायन शैलियां वस्तुतः लोक की कोख से ही जन्मी हैं। इसी तरह ओडिशी, कुचिपुड़ी, मोहिनी अट्टम्, कथकलि, सत्तीया एवं छऊ आदि जैसी नृत्य शैलियां भी लोक के रास्तों से गुज़रकर ही शास्त्रीय बनी है। लोक संगीत और नृत्य वैसे तो सामान्यतः उस स्थान, प्रांत एवं जन भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं, जहां वे जन्मे हैं, लेकिन, इनकी विशेषता यह है कि ये भावनाएं सामान्यतः पूरी दुनिया के लोगों की एक जैसी होती है। संतान के जन्म की खुशी, बच्चों के प्रति प्यार, दुलार की भावना, शादी-विवाह की रस्में, अपने आराध्य की पूजा, फसलों की रोपाई और कटाई का उत्सव और किसी प्रियजन की मृत्यु का दुख आख़िर पूरी दुनिया में एक समान अनुभव किया जाता है। और यही तो है लोक, जहां हम दिखावेपन के मुखौटे से, अभिजात्यपन के बंधन से मुक्त होते हैं! इन भावनाओं का प्रदर्शन ही लोक नृत्यों का मुख्य उद्देश्य होता है। जिस तरह ये भावनाएं सार्वभौमिक हैं, उसी तरह लोक संगीत और नृत्य भी नैसर्गिक हैं।

यहां, यह प्रश्न भी उठता है कि आख़िर क्यों लोक गीतों, नृत्यों की कुछ शैलियां तो बाद में शास्त्रीयता के दायरे में आ जाती हैं, और कई नहीं आ पाती हैं जबकि, इस देश में लोक गीतों, नृत्यों की संख्या हज़ारों में हैं। दरअसल, जिन गीत एवं नृत्य विधाओं में आभिजात्य के कुछ गुण छपे होते हैं, बाद में उन अभिजात्य गुणों को विकसित करके, उन्हें परिमार्जित और परिष्कृत करके, उनका शास्त्र रचकर उन्हें शास्त्रीयता के दायरे में लाया जाता है लेकिन, यहां यह देखना ज़रूरी होता है कि उस गीत और नृत्य में आभिजात्य के गुण कितने हैं? इसीलिए तो ध्रुवपद, धमार और खयाल जहां पूरी तरह शास्त्रीय विधाएं बन चुकी हैं, वहीं ठुमरी, टप्पा, मांड़, होली और कजरी आदि उपशास्त्रीय संगीत के दायरे में ही आती हैं। इसी तरह कथक, ओडिशी, मणिपुरी आदि जैसी नृत्य

शैलियां ज़रूर आज शास्त्रीय बन चुकी हैं, लेकिन बीहू, गरबा, गिद्धा, घूमर और भांगड़ा आदि नृत्य शैलियां इस दायरे से बहुत दूर हैं।

धर्म और आध्यात्म की बातें तथा उनके प्रस्तुतिकरण का अंदाज़ भी एक विशेष तत्व है, जो संगीत-नृत्य शैलियों को शास्त्रीयता के दायरे मे लाने का काम करता है। शास्त्रीय संगीत-नृत्य का धार्मिक-आध्यात्मिक पक्ष काफ़ी सबल होता है। ये सतही, रूमानी और रोज़मर्रा की बातें बहुत कम करते हैं। इनमें शृंगार भी होता है तो राधा और कृष्ण का। विषय की गहराई क्रमशः अधिक और कम होने के कारण ही खयाल शास्त्रीय संगीत बन गया, लेकिन क़व्वाली नहीं? जबकि दोनों का स्त्रोत एक है... ठुमरी को पहले गाया जाता है और दादरा को बाद में।

यहां, यह भी ध्यातव्य है कि जिन नृत्यों में गीतों का भी प्रयोग होता है, उनमें भाव-भंगिमाओं और अभिनय की अधिक गुंजाइश होती है। इसलिए उनके शास्त्रीय बनने की संभावना भी अधिक होती है। यहां, यह भी देखने वाली बात होती है कि भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए जिन गीतों का प्रयोग होता है वे कैसे हैं? उनकी भाषा कैसी है? उनका साहित्य कैसा है? अगर उनमें प्रयुक्त लौकिक भावनाएं धर्म और अध्यात्म की ओर संकेत करती हैं, तथ्यों में गहराई है, शब्द मर्यादित हैं तो उस शैली के विकसित होने की संभावनाएं अधिक होती हैं लेकिन, विषय अगर सिर्फ फ़सलों की बुवाई, कटाई का हो, धान की कुटाई का हो, बेटी की विदाई का हो या देवर-भाभी और जीजा-साली के हंसी-मज़ाक का हो तो वे प्रायः आंचलिक दायरों में सिमटकर रह जाते हैं।

दो कजरी के माध्यम से इसे आसानी से समझा जा सकता है। पहली लोकप्रिय कजरी है—इसे खेलन जइबु सावन में कजरिया, बदरिया घिरी आई ननदी? इसमें ननद-भाभी की पहलबाज़ी है। लोकगीतों की सारी विशेषताएं हैं। इसलिए सौ-डेढ़ सौ वर्षों से यह लोकगीत और लोकनृत्य के रूप में लोकप्रिय है लेकिन, दूसरी कजरी विषय की गहराई और भाषा तथा लय के मर्यादित स्वरूप के कारण अनेक कथक नृत्यकारों द्वारा उसी तरह अपनाई जा रही है, जिस तरह कोई ठुमरी या भजन। शब्द हैं—बैठी सोचे बृजभाम/ सूनो लागे मेरो धाम/नहीं आए घनश्याम/घिरी आई बदरी। कुछ कबिलाई, जन जातीय नृत्य सिर्फ एक गति में प्रस्तुत किए जाते हैं। उनमें लय के चमत्कार भी नहीं होते हैं और गीतों में गहराई भी नहीं होती। ऐसे लोक नृत्य सिर्फ एक सीमित दायरे में सिमटकर रह जाते हैं।

शास्त्रीय और लोक—दोनों ही तरह के संगीत-नृत्य में भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है लेकिन, वे भावनाएं पार्थिव हैं या अपार्थिव? वे लौकिक प्रेम के रंग में रंगी हुई हैं या आध्यात्मिक प्रेम के रंगों से सराबोर? उनमें मात्र गति है या ठहराव भी? इन्हीं आधारों पर लोक और शास्त्रीय का विभाजन होता है। लोक संगीत कानों को अच्छे लगते हैं, लोक नृत्य नेत्रों को अच्छे लगते हैं लेकिन शास्त्रीय संगीत और नृत्य मन और मस्तिष्क पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। इसलिए जिन लोक विधाओं में यह क्षमता होती है, वे ही क्षेत्रीयता के दायरे से ऊपर उठते हुए शास्त्रीयता की परिधि में पहुंच पाते हैं। शास्त्रीय नृत्यों में जहां कठोर अनुशासन होता है, वहीं लोक नृत्यों में भावनाओं की उन्मुक्त उड़ानें, उनका स्वछंद विचरण।

लोक-नृत्यों के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि जिस तरह कथक, कथकलि, ओडिशी तथा मणिपुरी आदि जैसी नृत्य शैलियां आंगिक मुद्राओं के आधार पर एक-दूसरे से पृथक दिखती हैं, उसी प्रकार शास्त्र के कठोर अनुशासन से मुक्त होने के बावजूद घूमर, भांगड़ा, गरबा और बीहू आदि जैसी सभी लोक नृत्य शैलियां भी आंशिक मुद्राओं के आधार पर एक दूसरे से बिल्कुल अलग दिखती हैं। आंगिक मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं के आधार पर इन्हें एक-दूसरे से अलग करके आसानी से पहचाना जा सकता है अर्थात् लोक नृत्यों का भी अपना एक भरा-पूरा संसार है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि विशिष्ट आंगिक मुद्राएं पैरों की गतिशील थिरकन, अपने क्षेत्र एवं अंचल विशेष की विशेषताओं का भावपूर्ण प्रदर्शन लोक नृत्यों के आधारभूत तत्व हैं। ये होली, नवरात्रि जैसे विभिन्न पर्व-त्यौहार, जन्म, विवाह आदि जैसे पारिवारिक-सांस्कारिक उत्सव, फ़सलों की बुवाई, कटाई आदि जैसे सामाजिक उत्सव, ग्राम्य देवता, वन देवी की पूजा आदि जैसे धार्मिक उत्सव आदि के अवसरों पर सामान्यतः सामूहिक रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

लोक नृत्यों के माध्यम से आम लोगों के सुख-दुख की बातें की जाती हैं, इनमें क्षेत्रीय रस्मोरिवाज का चित्रण, वातावरण का वर्णन एवं हर्ष-विषाद, आंसू और मुस्कान का भावपूर्ण प्रदर्शन होता है। यह सच है कि गीत के बोल, नृत्य की मुद्राओं, गीत के धुन एवं लय की गति की दृष्टि से लोकगीत-नृत्य सिर्फ अपने आसपास की, अपने लोक की बातें करते हैं लेकिन, इससे भी बड़ा सच यह है कि भावनाओं के विस्तृत आकाश में ये पूरी दुनिया को स्वयं में समेटने की क्षमता रखते हैं। शब्द मुद्रा और लय आदि के आधार पर भले ही इन्हें क्षेत्रीय कहा जाए, किंतु विषय-वस्तु की दृष्टि से लोक संगीत और नृत्यों की गोद में पूरी दुनिया समाई हुई है।

विभिन्न क्षेत्रों के लोक-नृत्यों के साथ विभिन्न प्रकार के वाद्य यंत्रों का वादन होता है। इनमें बांसुरी, शहनाई, पेंपा एवं हारमोनियम आदि सुषिर वाद्य भी होते हैं। सारंगी, इसराज, दिलरूबा तथा तार शहनाई आदि जैसे तत् वाद्य भी, झांझ, मंजीरे, घंटे एवं घुंघरू आदि जैसे घन वाद्य भी और तरह-तरह के ढोल, ढोलक, ढफ, खंजरी, नक्कारे तथा तबला आदि जैसे अवनद्ध वाद्य भी।

❑

संपर्क : क्यू-68, न्यू पालम विहार, फेज-1, गुड़गांव-122017 (हरियाणा)

कृपया ध्यान दें

चंदा भेजने और चंदे के बारे में पूछताछ के लिए अथवा पत्रिका प्राप्त न होने की स्थिति में कृपया वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक से सीधे संपर्क करें।

पता :

वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 48-53, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्पलेक्स, लोधी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन नं. : 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com

व्यक्तित्व

मोम बन जाएगा हर पत्थर दिल

'दरवेश' भारती का हिंदी ग़ज़ल साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी ग़ज़लों में परंपरागत एवं नवीन प्रयोगधर्मी शायरी का सुंदर समन्वय हुआ है। चिंतन के विविध आयाम ग़ज़लों में परिलक्षित होते हैं, चर्चा कर रहे हैं

मधुकर खराटे

'ग़ज़ल के बहाने' पत्रिका के माध्यम से 'दरवेश' भारती का नाम हिंदी साहित्य जगत् में चिरपरिचित है। इस पत्रिका के सुचारु संपादन के साथ-साथ उन्होंने कई ग़ज़लें भी लिखी हैं। नव-नवीन विषयों को उन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से स्वर प्रदान किया है। ग़ज़लों के लिए एक नई ज़मीन तैयार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य 'दरवेश' भारती ने किया है। उनका 'रौशनी का सफ़र' ग़ज़ल-संग्रह 2013 में प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी 75 ग़ज़लें संग्रहीत हैं। 'दरवेश' भारती और उनकी ग़ज़लों के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए जीवन सिंह ने लिखा है कि ग़ज़ल वर्तमान की एक ऐसी लोकप्रिय काव्यविधा है, जिसमें व्यक्ति और समय के वास्तविक सरोकारों के एहसासों की एक नई ज़मीन तैयार करने की मुहिम इन दिनों परवान चढ़ रही है। ऐसे समय में 'दरवेश' भारती सरीखे अनुभवी ग़ज़लकार ने समय की चाल को पहचानते हुए न केवल ग़ज़ल को अपने अनुभव दिए हैं बल्कि स्वयं के मिज़ाज को भी उसमें उड़ेला है। उन्होंने ग़ज़ल के अनुशासन और उसकी रीति-नीति को उसके मौलिक स्वरूप में कायम रखने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शाइर अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अपने जीवन के एक-एक अनुभव को रौशनी के इस सफ़र में बांट देना चाहता है। इन ग़ज़लों के आईने में कहा जा सकता है कि 'दरवेश' भारती एक मंजे हुए अरूज़ी (छंदशास्त्री) ही नहीं, एक परिपक्व और संजीदा शाइर भी हैं।



'दरवेश' भारती द्वारा 'रौशनी का सफ़र' विगत 40-50 वर्षों में लिखी गई ग़ज़लों का चुनिंदा संचयन है। इनमें वे ग़ज़लें भी हैं जो 'जमाल' क़ाइमी के नाम से लिखी गई थीं और वे भी जो बाद में 'दरवेश' भारती के नाम से लिखी गई। इस संचयन में रिवायती और जदीद शायरी दोनों परिलक्षित होती है। इस संदर्भ में स्पष्टीकरण देते हुए ज़हीर कुरेशी लिखते हैं कि, 'आप प्रश्न कर सकते हैं कि कवि तो एक है—फिर हरिवंश अनेजा 'जमाल' क़ाइमी और 'दरवेश' भारती जैसे नामों की बात क्यों की जा रही है'। मेरा उत्तर होगा कि, 'नाम बदलने के साथ ही ग़ज़लों का मिज़ाज भी बदल गया है।' इस संचयन की ग़ज़लों में 'जमाल' क़ाइमी और 'दरवेश' भारती के शेरों के बीच एक महीन-सी पार्थक्य-रेखा आसानी से देखी और समझी जा सकती है। 'दरवेश' की ग़ज़लों में हमें व्यक्ति और समाज से जुड़े विभिन्न विषयों के दर्शन होते हैं। उन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अपने जीवनानुभवों को प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्त किया है। दुष्यंतोत्तर हिंदी ग़ज़लकारों में 'दरवेश' भारती भी एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। बदलते समय की समस्याओं पर उनकी पैनी नज़र है। इसीलिए उनकी ग़ज़लों में वर्तमान समय की त्रासदियों को देखा जा सकता है।

देश में धर्म और संप्रदाय के नाम पर दीवारें खड़ी कर दी गई हैं जिसकी वजह से एक-दूसरे के दिलों में नफ़रत बढ़ गई। लोग एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। प्रेम, सद्भाव और अपनापन समाप्त होता जा रहा है। संकुचितता बढ़ने लगी है। यह चिंता का विषय है। वास्तव में सभी धर्म श्रेष्ठ हैं, उदात्त हैं। इनमें निहित विचार भी यही कहते हैं कि सभी धर्मों के प्रति आदर हो, निष्ठा हो परंतु धर्म के अनुयायी अपने स्वार्थ-हेतु धर्म का दुरुपयोग कर रहे हैं। अतः वर्तमान युग में यह परिलक्षित हो रहा है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' का आदर्श लुप्त होकर हिंसा का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा है। 'दरवेश' भारती कहते हैं—न जाने रहनुमाओं ने कैसी भड़काई/तमाम शहर मिला आग में झुलसता हुआ।

वर्तमान युग में राजनैतिक परिवेश की तरह ही सामाजिक परिवेश में भी अत्यंत तीव्र गति से मानवीय मूल्यों का पतन हुआ है। मनुष्य दिन - प्रतिदिन स्वार्थी एवं संवेदनहीन होता जा रहा है। अपनापन, सहानुभूति, त्याग, सहयोग, मानवता आदि से उसे कोई सरोकार नहीं है। बढ़ती हुई भौतिकता और संस्कारों का अभाव सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। एक समय ऐसा था जिसमें मानवीय मूल्यों को जीवन का उदात्त आदर्श माना जाता था। पारस्परिक प्रेम, दया, सहानुभूति, संवेदना, त्याग, सत्य, सहयोग जैसे मूल्य सामाजिक सौहार्द के लिए आवश्यक माने जाते थे। 'स्व' से 'पर' भावना का महत्त्व ज्यादा था। मानवता, परोपकार, प्रामाणिकता, विश्वसनीयता को चरम आदर्श के रूप में देखा जाता था किंतु समसामयिक युग में भौतिकता के फलस्वरूप मानवीय मूल्यों को महत्त्वहीन माना जा रहा है। समाज में इंसानियत खत्म हो चुकी है। समाज में एक ऐसी सभ्यता का विकास हो रहा है, जिसमें आदमी कहीं दिखाई नहीं दे रहा है—विश्व में विकास हो रहा है सभ्यता का यूं/आदमी तो है, मगर रहा नहीं वो आदमी।

'जब भी जी चाहे नई दुनिया बसा लेते हैं लोग/एक चेहरे पे कई चेहरे लगा लेते हैं लोग' गीत की ये पंक्तियां वर्तमान समय में सार्थक सिद्ध हो रही हैं। अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य किसी भी हद तक जाने में तनिक भी संकोच नहीं करता। वह स्वार्थ की ख़ातिर अपने वादों से मुकर जाता है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए 'दरवेश' भारती फ़रमाते हैं—खुद भी तो रंग बदलने में हो माहिर तुम लोग/ सिर्फ़ गिरगिट को ही बेकार में रुस्वा न करो। निजीकरण, उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण के फलस्वरूप व्यवसाय का रूप ही बदल गया है। मुक्त अर्थव्यवस्था को अपनाने की वजह से कई बहुराष्ट्रीय कंपनियों का हमारे देश में प्रवेश हुआ। उन्होंने केवल कारख़ाने ही नहीं खोले, बल्कि बाज़ार में अपने सुपरमार्केट भी निर्माण किए, जहां वे अपनी वस्तुएं बड़े धड़ल्ले से बेच रहे हैं। उनका मार्केट बड़ा सजा-धजा, आकर्षक होता है। वहां की चमक-दमक ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करती है। बाज़ारवाद का प्रभाव समाज में हर घर में दिखाई दे रहा है। इसीलिए ग़ज़लकार कहता है—घरों तक आ गया बाज़ारवाद यूं यारो /x x x x x/ कि लोग अपने ही लोगों से जा रहे हैं छले/ये भी हो और वो भी हो, गोया हर इक शय इसमें हो/अब तो घर को घर नहीं, बाज़ार होना चाहिए। 'दरवेश' भारती की ग़ज़लों में हमें कहीं-कहीं नारी-विमर्श के भी शेर दृष्टिगोचर होते हैं। नारी

'दरवेश' नई पीढ़ी के रवैये से खुश नहीं हैं। बदलता सामाजिक परिदृश्य उन्हें आशादायी नहीं लगता। एक ज़माना था जब समाज और परिवार में बड़े-बूढ़ों की इज़्ज़त की जाती थी। उनसे सलाह ली जाती थी। उनके साथ लोग अदब से पेश आते थे किंतु इस नए ज़माने में उन्हें वह इज़्ज़त नहीं मिलती जिसके वे हक़दार हैं, बल्कि वे अब नई पीढ़ी के लिए बोझ बन गए हैं।

पर होने वाले अन्याय-अत्याचार का चित्रण करने वाले शेर तो दिखाई नहीं देते, किंतु नारी-मुक्ति के परिणामस्वरूप विकसित होने वाली नारी का चित्रण उन्होंने अवश्य किया है। पढ़-लिखकर नारी विविध क्षेत्रों में अपना योगदान दे रही है। शिक्षित होकर उसने समाज में अपना एक स्थान बना लिया है। उसकी सक्रियता पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं—आज औरत पा रही है वो मक़ाम/बन न पाएगी वो 'दरवेश' अबशिला।

'दरवेश' भारती प्रेम और सद्भाव को अत्यंत महत्त्व देते हैं। हिंदी ग़ज़लकारों ने अपनी ग़ज़लों में केवल सांप्रदायिक समस्या, उसके दुष्परिणाम तथा उसके पीछे की राजनीति का ही चित्रण नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से सांप्रदायिक सद्भाव के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया है। साथ ही साथ एकता और सामंजस्य की भावना को भी निरूपित किया है। आपसी मतभेद तथा सांप्रदायिकता देश के विकास में किस तरह बाधाएं निर्माण करती हैं, इसकी ओर भी संकेत किया है। इंसानियत, भाईचारा तथा एकता की भावना की वर्तमान परिवेश में कितनी आवश्यकता है, इसे भी इन ग़ज़लकारों ने अपनी ग़ज़लों में अभिव्यक्त किया है। 'दरवेश' भारती प्रेम, सद्भाव तथा परोपकार को महत्त्व देने वाले ग़ज़लकार हैं। मानवता को वह सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रेमपूर्वक किया गया व्यवहार निश्चित ही व्यक्ति और समाज के लिए लाभदायी सिद्ध होता है जिससे सारे मतभेद मिट जाते हैं, मनमुटाव खत्म हो जाता है किंतु इसके लिए हमें सार्थक प्रयास करने की आवश्यकता है—मोम बन जाएगा हर पत्थर-दिल / साज़े-दिल आप उठाएं तो सही/ है कहां ग़ैर कोई दिल से ज़रा/भेदभाव आप मिटाएं तो सही।

साहित्य का दर्शनशास्त्र से बहुत गहरा संबंध है। दर्शन, साहित्य को लेखन की सामग्री उपलब्ध कराता है। विश्व-साहित्य की लगभग सभी विधाओं में दार्शनिक तत्त्व परिलक्षित होते हैं। आदिकाल से लेकर आज तक हिंदी साहित्य की विविध विधाओं में दार्शनिक तत्त्वों को अभिव्यक्त किया गया है। हिंदी ग़ज़ल भी उसके लिए अपवाद नहीं है। इस संदर्भ में विचार व्यक्त करते हुए फ़िराक़ गोरखपुरी ने लिखा है कि हिंदी ग़ज़लों में भी जीवन-जगत् एवं अन्यान्य विषयों पर स्फुट रूप से दार्शनिक विचारों को स्थान प्रदान किया गया है। ग़ज़लों में चूंकि एक ही शेर में पूरी बात कह देनी होती है, इसीलिए उनमें प्रतीकात्मकता का बहुत सहारा लिया गया है और चूंकि एक-एक शब्द विभिन्न परिस्थितियों में असंख्य वस्तुओं का प्रतीक हो सकता है, इसीलिए धीरे-धीरे ग़ज़ल में व्यापकता की कला इतनी विकसित हो गई है कि एक ही शेर प्रतीक-रूप में आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और व्यावहारिक जीवन में एक-सा लागू हो सकता है। इसी आधार पर दार्शनिक तथ्यों को कविता के साथ सामने लाने में ग़ज़ल का प्रयोग बहुत किया जाता है। 'दरवेश' भारती की ग़ज़लों में भी हमें दार्शनिक तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। जीवन में अच्छे-बुरे अनुभव आते ही रहते हैं। अतः निराश नहीं होना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि जीवन में जिस तरह कटु अनुभव, दुःखद क्षण, निराशा, हताशा आदि बातें हैं, तो साथ ही साथ आनंद के क्षण, मधुर पल, खुशियां आदि भी हैं। सुख-दुःखों का चक्र जीवन में निरंतर चलता रहता है। इसीलिए 'दरवेश' भारती मनुष्य को यह संदेश देते हुए कहते हैं—कभी दुख-ही-दुख है कभी सुख-ही-सुख/है 'दरवेश' जीवन की ये झांकियां।

'दरवेश' नई पीढ़ी के रवैये से खुश नहीं हैं। बदलता सामाजिक परिदृश्य उन्हें आशादायी नहीं लगता। एक ज़माना था जब समाज और परिवार में बड़े-बूढ़ों की इज़्ज़त की जाती थी। उनसे सलाह ली जाती थी। उनके साथ लोग अदब से पेश आते थे किंतु इस नए ज़माने में उन्हें वह इज़्ज़त नहीं मिलती जिसके वे हक़दार हैं, बल्कि वे अब नई पीढ़ी के लिए बोझ बन गए हैं। उनकी उपेक्षा की जाती है। उन्हें समय-समय पर अपमानित किया जाता है। कई बड़े-बूढ़े वृद्धाश्रम में रहने के लिए विवश हैं। इस बात पर कटाक्ष करते हुए ग़ज़लकार कहता है—हासिल न हो सका बड़े-बूढ़ों को सुख कभी/ चाहे सपूत उनके कमाते रहे बहुत/ x x x x x / बड़ों की जो न करे ख़िदमत उनके जीते-जी/शुमार क्यों न हो नाम उनका नामुरादों में। साहित्य का उद्देश्य समाज का हित करना, कल्याण करना है। यह अमंगल को समाज से निकाल बाहर करता है। वह समाज को एक नई दिशा, एक नई रौशनी प्रदान करता है। रूढ़ियों एवं मान्यताओं का विरोध करता है। साहित्यकार की रचनाओं द्वारा समाज को प्रेरणा प्राप्त होती है। इसीलिए कहा जाता है कि साहित्य समाज का 'दर्पण' ही नहीं, बल्कि 'दीपक' भी होता है। जिस साहित्य में जन-सामान्य के दुःख-दर्द का चित्रण नहीं है, जो समाज का यथार्थ चित्रण नहीं करता, समाज के मंगल की कामना नहीं करता, वह साहित्य कहलाने के योग्य ही नहीं है। 'दरवेश' भारती की भी यही मान्यता है कि जिस साहित्य में 'उदात्त तत्व' नहीं है, वह साहित्य कभी सच्चा साहित्य नहीं हो सकता—रहस्यवाद हो या हो प्रयोगवाद तो क्या /उदात्त भाव हो रचना में, क्या है 'वादों' में।

वर्तमान युग में मोहभंग, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अवसरवाद, बेरोज़गारी, आर्थिक विषमता, सांप्रदायिकता, शोषण, अत्याचार आदि तमाम बातों से मनुष्य त्रस्त हो चुका है। हिंदी ग़ज़लकारों ने ऐसे निराश और हताश मनुष्य को परिस्थिति में परिवर्तन-हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। प्रयत्नशीलता जीवन में बहुत महत्त्व रखती है। जीवन में यदि हमें कुछ पाना है, तो प्रयत्न करना जरूरी है। केवल भाग्यवादी बने रहना या परिस्थितियों का मूक दर्शक बने रहना ठीक नहीं है। जो परिस्थितियों से हार मान ले, उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। एक उमंग, एक हौसला जीवन में होना चाहिए। जब हम प्रयत्नशील होंगे, तब ही हमें नई दिशाएं प्राप्त होंगी। 'दरवेश' भारती की ग़ज़लों में संघर्ष की यही प्रेरणा हमें परिलक्षित होती है—मुश्किलों से जूझना जो सीख ले/सामने उसके झुका दे सर शिखर / जिसमें भी विश्वास जगमग हो गया/उसने ही देखी सफलता की डगर।

निष्कर्षतः 'दरवेश' भारती का हिंदी ग़ज़ल साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी ग़ज़लों में परंपरागत एवं नवीन प्रयोगधर्मी शायरी का सुंदर समन्वय हुआ है। चिंतन के विविध आयाम ग़ज़लों में परिलक्षित होते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, बाज़ारवाद, सांप्रदायिकता, सांप्रदायिक सद्भाव, नारी-विमर्श, मानवीय मूल्यों का पतन, भ्रष्टाचार, जीवन-दर्शन, साहित्यिक बोध, पीढ़ी अंतराल, संघर्ष की प्रेरणा आदि विषयों पर उन्होंने अपनी ग़ज़लों में मार्मिक शेर कहे हैं। कम से कम शब्दों में अपनी बात को कहने का उनका अंदाज़ ही निराला है। एक परिपक्वता उनकी ग़ज़लों में सर्वत्र परिलक्षित होती है। उनकी ग़ज़लों के कई शेरों में हमें नए बिंब एवं प्रतिमान दृष्टिगोचर होते हैं। ❑

संपर्क : हिंदी विभाग, कला-वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, बोदवड, जिला जलगांव-425310 (महाराष्ट्र)

बंटवारा

आनंद लहर

बात कोई ज्यादा बड़ी नहीं थी मगर बड़ी हो गई। एक लड़के का गेंद मटकी से टकरा गया। मटकी न टूटी और न ही गेंद को कोई नुकसान हुआ लेकिन नफ़रत की हवा को तेज़ चलने का मौक़ा मिल गया। पंचायत हुई सरपंच और पंच आपस में बंट गए। सरपंच इस गांव का नहीं था और पंचों की संख्या दो हो गई। सरपंच ने समस्या सुलझाने की कोशिश की और ज़ोर से कहने लगा कि यह शरीफ़ लोग हैं कोई ओर होता तो गेंद फाड़ देता या मटकी तोड़ देता। यह सुनकर लोगों ने एक-दूसरे पर हमला किया और गेंद फाड़ दिया और मटकी भी तोड़ दी। सरपंच ने मना किया और शांति के पक्ष में एक भाषण दिया और कहा कि भगवान के लिए अब एक-दूसरे के घर न जलाना। यह सुनकर लोगों ने फिर हमला किया और एक-दूसरे के घर भी जला दिए। उस पर सरपंच ने दुख जताते हुए कहा, 'अब जले हुए घरों को दोबारा निर्माण करने से रोकना नहीं। फिर लोगों ने एक-दूसरे को रोका। असल में सरपंच इस गांव का नहीं था इसलिए उसे शायद लोगों को अधिक सहानुभूति दिखानी पड़ती थी। ज्यादा आंसू बहाने पड़ते थे। उसने लोगों को बुलाया और लोगों को समझाने लगा। सहमत के पक्ष में उसने एक बहुत बड़ा भाषण किया और लोगों को कहा कि ऐसा मत करो यह गांव दो भागों में बंट जाएगा।

क्या यह गांव बंट सकता है? एक व्यक्ति ने पूछा।

लेकिन भगवान के लिए इकट्ठे रहना सीखो। सहमत में भक्ति है। सरपंच ने कहा।

बात आगे बढ़ी और एक दिन बंटवारा हुआ। दो गांव बन गए। लोग विभाजित हुए और सरपंच ने घोषणा की कि वह दुखी हो गया है। उसका दिल बड़ा उदास है।

इसलिए अब वह यह दोनों गांव को छोड़कर तीसरे स्थान पर जा रहा है। एक गांव के दो गांव बन गए। फ़कीर चंद पनसारी एक गांव में आ गया और राज धर्म नमबरदार दूसरे गांव में। लोगों के घर उजड़ गए। उदास उदास सड़कें थीं। लोग परेशान थे कि उनका एक-दूसरे के घरों में आना-जाना भी बंद हो गया। फिर फ़कीर चंद की दवाई के बिना लोग मरने लगे। समय और आगे बड़ा।

आख़िर एक दिन नूरा की भैंस कमज़ोर हो गई। यह भैंस तीस किलो दूध देती थी। भैंसा ग़लती से सीमा के पार चला गया है। भैंसा और भैंस एक-दूसरे के सामने खड़े रहते मगर मिल नहीं सकते थे। एक दिन फिर भैंस ने दूध देना छोड़ दिया। उसे देखकर बाकी भैंसों ने भी ऐसा किया।

उधर एक व्यक्ति ने सिपाही से कहा साहब मेरा भैंसा वह सामने खड़ा है। इस पर सिपाही ने पासपोर्ट बनाए और कहा दूसरे रास्ते से आओ।

नेहा बड़ी खूबसूरत थी। उसका पिता सुंदर चूड़ियां बनाता था और दिन-रात चूड़ियां बनाने में



लगा रहता मगर घर में ग़रीबी थी कि जाने का नाम न लेती थी। नेहा और बड़ी हुई। एक दिन उसने पूछा क्या मेरी मां भी मेरी तरह ग़रीब थी? नहीं बेटी ऐसी बात नहीं है क्योंकि उस समय चूड़ियों के बहुत ग्राहक थे। रंग-बिरंगी और ख़ूबसूरत चूड़ियों के। वह ग्राहक कहां गए? नेहा ने पूछा। वे पार वाले हैं और वहां उनकी बाईं कलाइयां ख़ाली हैं और गांव की मानता है कि अगर उनकी बाहों पर चूड़ियां न हों तो बारिश या तो बहुत बरसती है या तो बरसती ही नहीं, यह सुनकर नेहा आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगी।

यही हाल अब इस गांव वालों का है। एक दिन शादी थी। इशारों-इशारों में लोगों ने फ़ैसला कर लिया। ढोल एक तरफ़ बजा तो तमोर दूसरी ओर, क्योंकि विभाजन में केवल लोग ही नहीं बल्कि खेल, आंगन, बैंड, स्कूल, किताबें सब बंटे थे मगर आगे चलकर ढोल और तमोर की ताल अलग-अलग हुए। घोड़ी घबरा गई और भाग गई। दूल्हा घायल हो गया। साईं फकड़ ज़ोर से हंसने लगा, कहने लगा। मैंने कहा न कि विभाजन मत करो और फिर मूल बात तो यह है कि तुमने विभाजन नहीं किया बल्कि दुश्मनी की है।

राज धर्म का बेटा गुलाब सख्त बीमार हो गया। उसने ज़ोर से कहा फ़कीर चंद से कहो कि बेटे को दस्त लगे हैं। दूसरे दिन फ़कीर चंद ने दवाई बनाई और घोषणा की कि दवाई तैयार है मगर जाएगा कैसे। घर से कुछ गज़ दूर था मगर वहां जाने के लिए परमिट लेना पड़ता था और इसमें बड़ी पेचीदगियां थीं और मुश्किलें भी। राज धर्म तंग आकर एक सैनिक के पास गया। साहब मेरा बच्चा बीमार है।

तो क्या करें?

साहब सीमा पार से दवाई लानी है अगर मानवता के नाते हो सके।

इस ओर सिपाही ने दूसरी तरफ़ के सिपाही के साथ बात की। फ़कीर चंद की दवाई दूसरे सिपाही ने इस तरफ़ के सिपाही को दी मगर साईं फकड़ ज़ोर से हंसा।

क्यों हंसते हो? साईं फकड़ से साथ वाले व्यक्ति ने पूछा।

यह राज धर्म उस समय विभाजन के पक्ष में नारे लगा रहा था क्या तब उसे मालूम नहीं था कि

उसके बेटे ने बीमार होना है और फ़कीर चंद की दवाई चाहिए।

उस समय काफ़ी बातों का हमें ज्ञान नहीं हुआ। मेरे खेत सूखे हैं और साथ में नदी का पानी बहता है। राज दीन ने कहा। सीमा के उस पार बाढ़ आती है और फ़सल नष्ट होती है और सीमा के इस पार सूखा है और फ़सल नष्ट होती है। और भूख दोनों तरफ़ के लोगों को समान लगती है। नाथ नंबरदार ने राज धर्म की बात का समर्थन किया।

लोग छुप-छुपाकर इधर-उधर जाते रहे। सरपंच अपने जीवन में किए गए महत्वपूर्ण कार्यों पर किताब लिखना चाहता था। वह एक दिन इन दोनों गांव में आया। लोगों ने स्वागत किया और गांव बांटने का धन्यवाद किया। फिर सरपंच ने भाषण दिया और कहा कि अब संयोग से रहना। ऐसा न हो कि तुम उनके स्रोत पर अधिकार जितलाओ और वो तुम्हारे खेल के मैदानों पर। उसने बात जारी रखते हुए कहा। यदि ऐसा ही हुआ तो लड़ना मत। इसके बाद फिर सीमाएं तेज़ हुईं। स्रोत को प्राप्त करने के लिए उग्रवाद शुरू हुआ और सीमा मज़बूत हो गई। इतनी मज़बूत हुई कि लोगों का इधर-उधर जाना बिल्कुल बंद हो गया, यहां तक कि उनके एक-दूसरे को देखने पर पहरे लग गए। इन सब बातों से साईं फकड़ काफ़ी परेशान हुआ। साईं फकड़ कभी-कभी शंख बजाता है और कभी-कभी नमाज़ पढ़ता है। उसने प्रस्ताव रखा कि हजारों साल पहले हमने शंख बजाए थे तब जाकर नमाज़ नसीब हुई थी। एक दिन दोनों तरफ़ के कमांडरों ने फ़ैसला किया कि दोनों तरफ़ माइनें लगाई जाएं। फिर माइनें लगाई गई।

एक दिन गांव के दूध देने वाले मवेशियों का झुंड उधर गया। तब माइनें फटने लगीं फिर दूसरे गांव वालों के दूध देने वाले पशु वहां पर आने लगे। फिर माइनें फटीं। दोनों ओर के गांवों में दूध की कमी हो गई। और भैंसों की चीख़ें मानो कह रही हों कि अगर इंसान ने ज़मीन के बंटवारे बंद न किए तो वह दूध नहीं देंगी।

गुलाब ने ज़ोर से कहा मेरी ग़रीबी बढ़ गई है, मेथी बिकती है मगर उससे कम फ़ायदा होता है।

वह कैसे? अहमद ने पूछा।

मुझे यहां से समुद्र पार जाकर अपना सामान बेचना पड़ता है और इतना खर्च हो जाता है कि आय बहुत कम रह जाती है और फिर मेरी मेथी-ग्राहक पार रहते हैं और किराए की वजह से कीमत इतनी अधिक हो जाती है कि पार वाले लोगों की शक्ति खरीद से बाहर है। सीमा के इस ओर व्यक्ति ने कहा देश की मेथी मिलती ही कहां है। हज़ारों मील सफ़र तय करके यहां आती हैं किराए इतने अधिक हैं कि खरीदना भी मुश्किल हो गया है।

सैनिकों को इस तरह की बातें करते हुए देख दोनों देशों की भैंसें इकट्ठा हो गईं मानो कह रही हों कि लड़ाई तुम्हारी होगी हमारी नहीं है। हम एक जैसे दूध देती हैं, पेड़ जैसे कह रहे हों हमारा फल एक जैसा है, कुत्ते भौंककर मानो कह रहे हैं हमारी आवाज़ एक जैसी है। सब लोग बेबस थे और फ़ौजी परेशान।

नूर दीन की बेटी बीगमां जवान थी, शादी की तिथि निर्धारित थी लेकिन पता चला कि मेथी ले जाने वाला विमान डूब गया।

साईं दास जो सीमा के इधर रहता था को पता चला कि नूर दीन को रुपये की जरूरत है। साईं दास काफ़ी अमीर हो गया था। साईं दास और नूर दीन पक्के दोस्त थे। उन दिनों साईं दास ग़रीब था और नूर दीन उसकी मदद करता था। साईं दास ने ज़ोर से कहा नूर दीन शादी न तोड़ना। रुपये भेज रहा हूं। साईं फकड़ फिर ज़ोर से चीख़ा रुपये मत भेजना क्योंकि उस गांव के रुपये इस गांव में नहीं लगते।

फिर क्या किया जाए। साईं दास के साथ कुछ और लोग मिले। सबने एक सुरंग बनाई और साईं दास ने दूध भेजा। एक दिन वह दूध पकड़ा गया। सैनिक इकट्ठे हुए। साईं दास बच गया। साहब, यह कैसे साबित हो सकता है कि किस गांव का दूध है क्योंकि दूध का रंग तो हर तरफ़ एक जैसा होता है। यह मनुष्य के बनाए हुए रुपये तो हैं नहीं कि एक देश के रुपये दूसरी तरफ़ नहीं लग सकें। यह जानवरों का दिया दूध है जिसका रंग हर देश में एक जैसा है और हर देश का आदमी उसे पी सकता है। इस पर दोनों तरफ़ के सिपाही परेशान हुए मगर कुछ नहीं कर सके। मगर इससे सीमाएं और मज़बूत हो गईं।

नूर दीन का बेटा जवान हुआ। अब उसकी शादी थी। गांव के लोग चौपाल पर अब बातें करने लगे थे। पहले शादियों में मिलकर लोग नाचते थे और वह देखो सामने ग़रीब दास का घर हुआ करता था। वह हर शादी में नाचा करता था। मेरी शादी में भी नाचा था और उसने वादा किया था कि वह मेरे बेटे की शादी पर नाचेगा लेकिन हम ग़रीब दास को बुलाते क्यों नहीं?

बेटा सीमा है इसलिए ग़रीब दास इधर नहीं आ सकता है।

मगर ग़रीब दास सीमा के सामने खड़ा होकर हर रोज़ नूर दीन के घर को देखता। वह इधर ही नाचते। दोनों ओर के सैनिक उसे पागल समझते। अब नूरदीन के लड़के की शादी में एक कठिनाई और आ रही थी। वह यह थी कि रिवाज़ के अनुसार कुछ चावल दूसरे गांव से आने थे, अगर ऐसा न होता तो सोमवार खुश न होता। नूर दीन की परेशानी बढ़ने लगी। वह इस बात पर परेशान था कि वह करे तो क्या करे। उधर ग़रीब दास उसे देखता था। नूर दीन का ऐसा मानना है कि अगर गांव चंडक के चावल न आए तो शायद यह शादी सफल न हो। ग़रीब दास ने एक दिन चावल लिए और सुरंग द्वारा पार पहुंचा दिए। सैनिकों ने पकड़ लिए पर कुछ न कर सकते थे क्योंकि चावल का भी कोई देश नहीं है लेकिन टैंकों, विमानों और तोपों की हार देखकर दोनों तरफ़ के सैनिकों ने साईं फ़कीर को बुलाया और पूछा कि चावल पार कैसे किए गए। यह दूध पार से यहां कैसे आया? साईं फ़कीर ने उन्हें सुरंग दिखाई।

सैनिकों ने दोनों तरफ़ के लोगों को बुलाया और कहा कि यह सुरंग कैसे बनी। सबने इंकार किया। पर साईं फ़कीर ज़ोर से कहने लगा—

साहब, यह निर्दोष है। उन्होंने सुरंग नहीं निकाली है।

लेकिन यह निकली कैसे?

साहब ज़मीन की अपनी गति है, यह भी चलती है और मनुष्य चूंकि उसके बेटे हैं इसलिए इनको मिलाती रहती है, कभी नदियों का रास्ता बदलकर, कभी भुचालों से सुरंगें निकालकर, कभी अपनी मिट्टी को खिसकाकर।

सैनिक हैरान हो गए और कहने लगे हम सीमाओं की रक्षा कर सकते हैं ज़मीन नहीं। इसलिए ज़मीन जो करता है करने दो।

सैनिकों को इस तरह की बातें करते हुए देख दोनों देशों की भैंसें इकट्ठा हो गईं मानो कह रही हों कि लड़ाई तुम्हारी होगी हमारी नहीं है। हम एक जैसे दूध देती हैं, पेड़ जैसे कह रहे हों हमारा फल एक जैसा है, कुत्ते भौंककर मानो कह रहे हैं हमारी आवाज़ एक जैसी है। सब लोग बेबस थे और फ़ौजी परेशान। चिड़ियां पेड़ पर चह-चहाकर कह रही थीं यह बंटवारा तुमने किया है। ज़मीन पर सज़ा पेड़ों, जानवरों और पक्षियों को भी मिल रही है। ❑

संपर्क : प्लॉट नं. 190, बख़्शी नगर, जम्मू (जम्मू-कश्मीर)

फिल्मों में दलित अस्मिता और सवाल

मोहनदास नैमिशराय

भारतीय समाज की सांस्कृतिक विरासत में कला अपने विभिन्न रूपों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अंकुरित और विकसित होती रही है। इसलिए कि कला से कलाकार के अंतरंग संबंध रहे। निश्चित ही कला हमारे जीवन से जुड़ी हुई है। जीवन में जिस तरह से बदलाव आ रहे हैं उसी तरह से कलाकार के उपकरण और माध्यम तथा कला के विषय और तरीके भी बदल रहे हैं। कई बार ऐसा भी अहसास होता है कि जैसे कोई दूसरा व्यक्ति हमारे भीतर बैठकर अभिव्यक्त होने की कोशिश कर रहा है।[1] कोई भी युग रहा हो, कोई भी प्रदेश हो, कोई भी भाषा हो, यथार्थ से रिश्ते जुड़े रहे। फिर वह कला भले ही नौटंकी या नाटक, जलसा या तमाशा में परिवर्तित हुई हो या सांग और फिल्म में अग्रसरित हुई हो। आधुनिक काल आते-आते इन सबसे दलित अस्मिता जुड़ती चली गई। भारतीय समाज में जैसे-जैसे पुनर्जागरण होता गया वैसे-वैसे फिल्म के विषय दलित जीवन तथा उसके आक्रोश से जुड़ते गए। कहना न होगा कि फिल्म उद्योग को दलित सवालों तथा अस्मिता ने प्रभावित किया। यह भी कहा जा सकता है कि सिनेमा कर्मियों को उन सवालों से जूझना पड़ा।



फिल्म 'अछूत'

बकौल ललित जोशी हिंदी सिनेमा ने शैशवकाल से ही दलित बिंब को जागृत किया किंतु पात्र-निरूपण तथा आख्यानात्मक निबंधन के स्तरों पर सावधानी और चालाकी बरतता रहा। ऐसा क्यों हुआ इसके लिए हमें उस दौर से अपनी बात शुरू करनी होगी जब पौराणिक कहानियों पर आधारित मिथक फिल्मों का चलन घटने लगा था और जब सामाजिक विषयों को केंद्रित करने वाली 'टॉपिकल्स' अस्तित्व में आई। टॉपिकल्स के विभिन्न सरोकारों में दलित सरोकार भी एक था।

सवाक् फिल्मों के निर्माण होने तक (1931) राष्ट्रवादी और दलित-विमर्श एक-दूसरे से विपरीत दिशाओं में बहने लगे थे। तत्कालीन संस्कृति कर्म राष्ट्रवादी सोच से गहराई से प्रभावित हुआ। अधिकांश साहित्यकार, चित्रकार और रंगकर्मी शहरी उच्च जातीय परिवारों से ताल्लुक रखते थे। उनके राजनैतिक सरोकार दलित पीड़ा से पूर्णतया अछूते थे। हिंदी सिनेमा भी इस आग्रह से बच न सका। उस समय ज्यादातर हिंदी फिल्मों का निर्माण बंबई या कलकत्ता में किया जा रहा था। इस विषय को और गहराई से समझने के लिए पांच फिल्मों का विश्लेषण करूंगा जो औपनिवेशिक काल में बनी थीं। यह थी 'खुदा की बात' (1930, आर.एस. चौधरी), 'चंडीदास' (1934, नितिन बोस), 'धर्मात्मा' (1935, वी. शांताराम), 'अछूत कन्या' (1936, फ्रेंट्ज आस्टन) तथा 'अछूत' (1940, चंदूलाल शाह)।



फिल्म 'अछूत कन्या'

तीस के दशक की बहुचर्चित और सुपर हिट फिल्म 'अछूत कन्या' है जिसे निरंजन पाल ने लिखा था। बॉम्बे टाकीज की सफलतम फिल्म एक अछूत बालिका (कस्तूरी) की कहानी है फिर भी इनमें ऐसा कोई भी दृश्य नहीं है जो अस्पृश्यता को प्रकाश में लाता हो। फिल्म की शुरुआत रेलवे क्रासिंग के दृश्य से होती है जिसमें एक व्यक्ति एक महिला की हत्या करने जा रहा है। महिला कस्तूरी है और व्यक्ति उसका पति। शेष कहानी फ्लैशबैक में है। वस्तुतः 'अछूत कन्या' निरंजन पाल की रचना 'द लेवल क्रासिंग' पर आधारित एक प्रेमगाथा है। कस्तूरी दलित है। वह गांव के एक ब्राह्मण युवक प्रताप से प्रेम करती है। प्रताप भी उसे चाहता है लेकिन हिंदू समाज इस रिश्ते को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है। कस्तूरी का विवाह सजातीय युवक से कर दिया जाता है। एक दिन अचानक कस्तूरी और प्रताप की मुलाकात मेले में हो जाती है। कस्तूरी का पति ईर्ष्या से भर उठता है। उसे संदेह है कि यह मुलाकात पूर्व-नियोजित थी। वह प्रताप पर जानलेवा हमला करता है। लड़ते-लड़ते दोनों रेलवे क्रॉसिंग तक जा पहुंचते हैं। रेलगाड़ी बस आने ही वाली है। कस्तूरी दोनों को छुड़ाने की कोशिश में खुद ही रेल के पहियों के नीचे आ जाती है। इस तरह एक अछूत बालिका अपने जीवन का बलिदान देती है ताकि समाज में ऊंची और नीची जाति के लोग शांति से रहें।

चालीस के दशक में दलित बिंब को रेखांकित करने वाली सबसे महत्वपूर्ण फिल्म 'अछूत' है। गांव के कुएं से पानी के इस्तेमाल पर लगाया प्रतिबंध लक्ष्मी के पिता को ईसाई बनने पर मजबूर कर देता है। लक्ष्मी की मां अपना धर्म छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। पारिवारिक कलह के बीच परिस्थितियां इस प्रकार बदलती हैं कि लक्ष्मी शहर में रहने वाले एक व्यवसायी परिवार की शरण में चली जाती है, इस परिवार में लक्ष्मी की हमउम्र संतान सविता भी है। दोनों सहेलियां इकट्ठा शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। संयोग से दोनों ही एक युवक से प्रेम कर बैठीं। जब सविता को पता चला तो उन्होंने लक्ष्मी को वापस गांव भेज दिया। वैसे भी लक्ष्मी अछूत है। गांव पहुंच कर लक्ष्मी देखती है कि छुआछूत अभी बरकरार है। वह अपने बाल सखा राम की मदद से छुआछूत के ख़िलाफ़ अछूतों को लामबंद करती है। गांव के सवर्ण समाज को लक्ष्मी की गतिविधियां रास नहीं आईं। वह छल द्वारा लक्ष्मी को जेल भिजवा देते हैं। इस बीच रामू की असमय मृत्यु हो जाती है। अछूत बेसहारा हो गए लेकिन वह लक्ष्मी और रामू के बलिदान को बेकार नहीं जाने देना चाहते हैं। उनके संकल्प ने सवर्ण समाज को जड़ से हिला

दिया। अंततोगत्वा गांव के मंदिर में सभी जातियों को प्रवेश की अनुमति मिल गई। फिल्म के अंतिम दृश्य में गांधीजी के वायकोम सत्याग्रह (1927) की प्रतिध्वनियां साफ सुनी जा सकती हैं। कुल मिलाकर इस दौर की अन्य फिल्मों की तरह 'अछूत' भी गांधीवादी विचार की परिधि में रहकर दलित समस्या का निराकरण ढूंढती है।

स्वातंत्रयोत्तर काल में दलित बिंब से रूबरू होने की अच्छी मिसाल प्रेमचंद की कहानी पर आधारित सत्यजित राय की फिल्म 'सद्गति' (1981) है। 'सद्गति' के प्रमुख पात्र ब्राह्मण घासीराम, अछूत दुखी और उसकी पत्नी मनुरिया है। रंगमंच और कलात्मक सिनेमा से जुड़े अदाकारों की मदद से सत्यजित राय ने दुखी की निर्धनता, मनुरिया के भोलेपन और घासीराम की धूर्तता को पर्दे पर ज्यों-का-त्यों दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। बीमार दुखिया का कुल्हाड़ी से लकड़ी चीरना, घासीराम का पूजा-पाठ के नाम पर आडंबर, अंतिम दृश्य में दुखीराम की लाश को दूर तक घसीटता घासीराम दर्शक को गहराई से प्रभावित करता है किंतु अच्छी अदाकारी और जीवंत निर्देशन के बावजूद भी 'सद्गति' को दलित-विमर्श का दस्तावेज़ नहीं माना जा सकता है। हाल ही में प्रकाशित पुस्तक में विनोद दास के अनुसार 'सद्गति' अधिक प्रभाव नहीं छोड़ती क्योंकि मूल कहानी में कांट-छांट की गई है।



फिल्म 'सुजाता'

1947 के बाद दलित प्रश्न को केंद्र में लाने वाली तीसरी महत्वपूर्ण फिल्म 'दीक्षा' (1991, अरुण कौल) है। यू. अनंतमूर्ति के उपन्यास पर आधारित 'दीक्षा' एक ब्राह्मण गुरु और उसकी पुत्री की गाथा है। गुरुकुल में गुरु का प्रिय शिष्य कोगा भी रहता है। कोगा दलित है लेकिन धर्मशास्त्रों को पूरी तरह समझने की लालसा रखता है। इस बीच एक हादसा हो गया। गुरु की ग़ैरहाज़िरी में उनकी पत्नी गर्भवती हो गई। अजन्मी संतान का पिता स्थानीय स्कूल का अध्यापक है जो एक विधवा से विवाह करने का साहस नहीं जुटा पाता। बेचारी विधवा क्या करे! उसे गर्भपात कराना पड़ता है जब गुरु लौटा तो उसने घटश्राद्ध (जीवित व्यक्ति का श्राद्ध) करने का फ़ैसला किया। जीवित व्यक्ति उसकी विधवा पुत्री थी। ब्राह्मणों ने गुरु की भूरि-भूरि प्रशंसा की लेकिन शिष्यों में विद्रोह की आग भड़क उठी। विद्रोही शिष्यों में कोगा भी है। उसे अब 'दीक्षा' की जरूरत नहीं रह गई और उसने आश्रम छोड़ दिया। 'सद्गति' की तरह 'दीक्षा' भी ब्राह्मणों के कर्मकाण्डीय जीवन पर प्रश्नचिह्न लगाती है लेकिन जाति व्यवस्था से मुक्त होने का रास्ता नहीं दिखाती।

श्याम बेनेगल के निर्देशन में बनी 'समर' (1999) दलित बिंब को प्रकाशित करने वाली नवीनतम प्रस्तुति है। यह फिल्म 1991 के मध्य प्रदेश के कुल्ल गांव में होने वाली सच्ची घटना पर आधारित है। इस वर्ष दलित बहुल कुल्ल गांव में एक हैंड पंप लगाया गया, जिसका सर्वाधिक विरोध राजपूत जाति के सरपंच और उसके सहयोगियों ने किया। कुल्ल में दलित उत्पीड़न का इतिहास काफी पुराना है। बात-बात में उन्हें पीट देना, कोड़े लगाना, यातनाएं देना, रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा है। 'समर' को यथार्थवादी स्पर्श प्रदान करने के लिए उसका फिल्मांकन इसी गांव में किया गया। फिल्म के मुख्य आख्यान की बुनावट समानांतर चलने वाले उपाख्यानों की मदद से की गई। मसलन, एक आख्यान बंबई से कुल्ल पधारे एक फिल्म यूनिट के वास्तविक अनुभवों का लेखा-जोखा है तो दूसरा 1991 की घटना को नाटकीय ढंग से पुनर्जीवित करने का प्रयास। इस प्रकार श्याम बेनेगल ने सिनेमाई आख्यान के परंपरागत रूप को तोड़ने की कोशिश की लेकिन दलित जीवन पर बनी अन्य फिल्मों की तरह 'समर' भी दलितों के प्रति शहरी, सवर्ण समाज की दया-दृष्टि का प्रतीक बनकर रह गई।

अफ़सोसनाक है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भी फिल्मकार अस्पृश्यता उन्मूलन को ही दलित-विमर्श की तार्किक परिणिति मान बैठे। रामू वासुदेवन का मानना है कि यह एक सचेतन निर्णय था। 1945 के बाद हिंदी सिनेमा हिंदू राष्ट्रवादी से बुरी तरह ग्रसित हो गया। हिंदू अनगाव तथा दर्शकों की उपेक्षा के भय से सिने उद्योग को ऐसी फिल्में बनाने के लिए मजबूर किया जो समरस हिंदू राष्ट्र की ऐसी पहचान बनाने में सहायक हो जिसमें अन्य पहचानें धीरे-धीरे विलीन हो जाएं।

विमल रॉय भारतीय सिनेमा में एक प्रतिबद्ध निर्देशक के रूप में जाने जाते हैं। समाज के शोषित-उपेक्षित जन सदैव से उनके सिनेमा के केंद्र में रहे। वह चाहे महाजनी शोषण के जुएं के नीचे जोते जाने वाले किसान के जीवन पर बनी फिल्म 'दो बीघा ज़मीन' हो, चाहे राजनैतिक भ्रष्टाचार एवं जंगल माफ़िया द्वारा आदिवासियों को जल-जंगल-ज़मीन से विस्थापित करने के मुद्दे को उठाने वाली 'अंजनगढ़' हो या फिर दलित स्त्री पर केंद्रित 'सुजाता'। वास्तव में विमल रॉय की अपनी एक अलग परंपरा है। एक ओर वे सामाजिक समस्याओं को उठाते हैं, लेकिन साथ ही कला फिल्मों की अमूर्तता से अपने को बचाने में सफल रहते हैं।

'सुजाता' फिल्म एक अछूत लड़की की कहानी है—यह फिल्म 1979 में आई थी। फिल्म की मुख्य भूमिकाओं में थे—नूतन 'सुजाता' और सुनील दत्त 'अजित'। सुबोध घोष ने इस फिल्म की कहानी लिखी थी। इस फिल्म को दर्शकों ने बेहद पसंद किया था और इसे तीन फिल्म फेयर पुरस्कार भी प्राप्त हुए थे। श्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार, श्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार एवं श्रेष्ठ कहानी लेखक का पुरस्कार।[2] चूंकि यह फिल्म एक अछूत लड़की की कहानी कहती है, तो इस फिल्म के साथ तभी न्याय हो सकता है जब हम इसे दलित स्त्री विमर्श की दृष्टि से देखने का प्रयास करें। यह जांचें कि एक दलित युवती के साथ एक सवर्ण निर्देशक न्याय कर पाया है या नहीं ? यदि हम 'सुजाता' को लें तो हमें यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि निर्देशक ने दलित युवती की कहानी को सहानुभूति की दृष्टि से चित्रित किया है। यह अनायास नहीं है कि फिल्म में गांधी की मूर्ति को सुजाता के दुःख में रोते हुए बताया जाता है। गांधी जी द्वारा अपने सवर्ण अनुयायिओं के तीव्र विरोध के बाद भी अछूत लक्ष्मी को शरण देने का प्रसंग भी नायक अजित द्वारा सुजाता को सम्बल देने के लिए सुनाया जाता है लेकिन क्या यह सवाल निर्देशक से नहीं पूछा जाना चाहिए कि उन्होंने दलित आंदोलन के मुखर प्रवक्ता अंबेडकर एवं फूले का उल्लेख अपनी इस फिल्म में क्यों नहीं किया? अछूत के प्रति सवर्णवादी समाज की दया का भी प्रारंभ में ही स्पष्ट हो जाता है जब उपेंद्र एक अछूत बालिका शिशु के प्रति पैसे की दया दिखाकर उससे मुक्ति चाहता है। दलित नायिका के मन में सदैव उस जाति में जन्म लेने के कारण अपराधबोध रहता है, लेकिन पूरी फिल्म में उसके मन

में अपने प्रति समाज के द्वारा किए जाने वाले भेदभाव के प्रति आक्रोश क्यों नहीं है? उसमें एक दलित की अस्मिता का बोध नहीं दिखाई देता है। स्पष्ट है कि विमल रॉय ने एक दलित लड़की की समस्या का हल गांधीवादी नज़रिए से किया है, दलित-विमर्श की दृष्टि से नहीं जो महत्वपूर्ण बात है। ध्यातव्य है कि दलित-विमर्श किसी से दया की भीख मांगने में विश्वास नहीं करता, वह दलित स्वाभिमान की बात करता है। पूरी फिल्म में एक भी पात्र में स्त्री चेतना या दलित चेतना नज़र नहीं आती। यहां अजित का चरित्र उल्लेखनीय है। एक पुरुष होने के बाद भी उसमें एक दलित स्त्री के शोषण के प्रति आक्रोश है।

यूं तो कई एक फिल्मों में प्रसंगतः एवं जरूरतन संगति के तौर पर, दलित जीवन चित्रित हुआ है, परंतु केवल दलित जीवन पर ही केंद्रित फिल्मों में चार ऐसी हैं, जो इस चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं—'पार', 'दामुल', 'आक्रोश', एवं 'समर'। कालक्रम-चेतना को बाद भी कर दें, तो अपने कथ्यगत सरोकारों की चेतना की सोपान-दा-सोपान की यात्रा का क्रम भी यही होगा। गौतम घोष की 'पार' में दलितवर्ग का शोषण-दमन एवं उनकी असहायता अपने उसी चरम पर है, जो जीवन व युग की कटु वास्तविकता रही है। उसमें चारों तरफ़ से लाचार-निरुपाय पाकर वे शहर जाते हैं, पर जीवन के बरक्स फिल्म की गवाही में वहां भी सब कुछ वैसा ही है। उत्पीड़न व बेबसी के अलावा फिल्मकार के पास भी कुछ न था और कहना होगा कि इसे इस सशक्त माध्यम में जितना खरा दिखाया जा सकता था, दिखाया गया और नसीरुद्दीन शाह तथा स्मिता पाटिल ने उतने ही सटीक भाव व अदा से ऐसा संसार रचा कि उसका जवाब सिसकियों में अहका-बहा। फिल्मकार की कला चेतना में सांकेतिक रूप में दलित जीवन का विनाश यथार्थ से कुछ सोपान आगे भी जाकर व्यक्त हुआ। सूअरों को नदी पार कराते हुए स्मिता पाटिल का गर्भपात भी हो गया—यानी इस जीवन में तो कुछ मिला नहीं-न ठीक से करने को, न पाने को उलटे भावी पीढ़ी तक को नष्ट कर दिया इस क्रूर व्यवस्थातंत्र एवं इसके कुटिल-निर्दय संचालकों ने। जीने मात्र के लिए कुछ करने को तैयार हो जाने की मजबूरी में सूअरों को नदी पार कराने के काम को जान की बाज़ी लगाने की तरह से स्वीकारते हुए जो भाव नसीर-स्मिता के चेहरे पर था, वह बलि के बकरे का-सा मर्मांतक था। दलित जीवन के पास कुछ न होने से शुरू होकर कुछ पाने की कोशिश में सब कुछ (वर्तमान-भविष्य) को गंवाने की लहूलुहान यात्रा का दस्तावेज है फिल्म 'पार'।



फिल्म 'दामुल'

'दामुल'[3] में प्रकाश झा ने दलितवर्ग की विवशता का वह चरम दिखाया, जिसमें सवर्णों के दमनचक्र की वे हदें सामने आईं जो दलितों को गांव की ज़द में बांध देती है। शहर जाकर कमाने का मौक़ा ही नहीं पाते दलित। रात को चुपचाप भागते हुए को लाठी के बल पर रोक दिया जाता है। व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों के हनन का यह क्रूर इतिहास शैवाल ने बिहार में आंखों देखा होगा और वहीं के प्रकाश झा ने इसे महसूस किया होगा। इस केंद्र चेतना पर आधारित यह फिल्म दलित जीवन के सचमुच के 'फांसी-डामल' को 'दामुल' के रूप में उजागर करती है। कहा जा सकता है कि ये दोनों ही फिल्में दलित दलन के वीभत्सतम यथार्थ से वाबस्ता है। यह फिल्म 1985 में आई। गया (बिहार) के शैवाल की कहानी कालसूत्र पर आधारित है। फिल्म में अन्नु कपूर, दीप्ति नवल और मनोहर सिंह आदि थे लेकिन शहर में बैठे गोविंद निहलानी ने राष्ट्रीय (शहरी) स्तर पर विकास व एक्सपोज़र को देखा था बल्कि यूं कहें कि इस चेतना के उस समाज तक (दर्शकों तक) पहुंचाना चाहते थे। तभी इस दलनतंत्र के समय सरकारी वकील (नसीरुद्दीन शाह) ने दलित आदिवासी (ओमपुरी) का केस हाथ में लिया। यानी 'केस' बनने के नियम थे, पर स्थिति न थी। सो, चेतना भी न थी। इसी चेतना को 'आक्रोश' ने पहुंचाने का बीड़ा उठाया। और इसी प्रयास में वह जीवन गौण हो गया, जो यातनाओं में फंसा तड़पता दिखता है 'पार' व 'दामुल' में। केस प्रमुख हो गया। केस भी दलित की स्त्री के साथ बलात्कार का-यानी बाज़ार का यथार्थ का।

यह सही है कि इस थीम पर बनी दृश्यमयता में दलित-वेदना डायल्यूट हो गई है, पर दलित दृष्टि एकदम सही बन पड़ी है। शायद इसी दृष्टि के लिए ही दृश्य के साथ ऐसा सलूक करना पड़ा। वकील तक को घर से लेकर बाहर तक खुलेआम प्रताड़ित करके पस्त करने की कारस्तानियां की जाती हैं। और इसीलिए ऐसी विकट व्यवस्था में गूंगे-बहरे बने रहकर दलित युवक उस जड़ को ही खत्म कर देता है, जो बेइज़्ज़ती का सबब बनती। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। यह विरोध नहीं, तो और क्या है! फिर ऐसा आत्मघाती विरोध इस बात का प्रमाण है कि 'पार' में विकल्प की खोज में गांव से शहर का जो दलित-प्रयास एक खाई से दूसरी खोह में गिरना सिद्ध हुआ था एवं 'दामुल' में पलायन तक को सील्ड कर देने पर भी विरोध की भनक तक न उठी थी, अब अंदर ही अंदर सुलग उठी है। यही है गोविंद निहलानी की दलित चेतना, जो विरोध की दृष्टि देती है—कठोर यथार्थ को बदलने की दृष्टि 'केस' के ज़रिए।

लेकिन श्याम बेनेगल, बकौलखुद, 'कॉज़' के लिए फिल्म बनाते हैं। दलित जीवन पर आई उनकी फिल्म 'समर' में इसीलिए 'केस' नहीं बनता। वरना था वह 'केस' ही। मंदिर में प्रवेश की सज़ा के रूप में ठाकुर ने दलित के सर पर भरी पंचायत में पेशाब किया था। कहते हैं, यह 1991 की सच घटना पर आधारित है। लेकिन जितने फ्रेम केस पर हैं फिल्म, डॉक्यूमेंट्री-सी बन गई है। ढेरों डॉक्यूमेंट्री बनाने का कलागत असर भी होगा, पर इसमें राज्याश्रय की नियति से नीयत भी कम नहीं है। 'कॉज़' के लिए समाज (ठाकुर) को कठघरे में खड़ा कर सकते हैं श्यामजी, परंतु केस के लिए सरकार को नहीं। फिल्मों के लिए ग्रैंट जो मिलती है। और यह बात कोई नई नहीं। हर युग के कलाकार को यह दोहरा कला-धर्म निभाना पड़ता है। राजा जयसिंह के 'हुकुम से भरे संवाद' एवं 'हरि-राधिका के परसाद' फिफ्टी-फिफ्टी मिक्सचर को बिहारी ने अपनी कविता के लिए स्वयं स्वीकारा ('बिहारी सतसई' का अंतिम दोहा)। बेनेगल जी स्वीकारें भले न, पर 'समर' में उनका बीच का रास्ता अख्यार करना छिपता नहीं। मुजरिम ठाकुर की पत्नी एवं बेटा उस दलित व्यक्ति से माफ़ी मांग लेते हैं। अब हम फिल्मों में दर्शाए दलित जीवन की बात करें। यूं तो फिल्मों में दलित जीवन का चित्रण हुआ ही नहीं लेकिन कई बार कुछ फिल्मों में उसे छूने की कोशिशें की जाती हैं, वह भी सतही रूप में। चर्चित और इसी दशक में रिलीज़ हुई फिल्म 'लगान' की बात करें। इस फिल्म में एक पात्र (कचरा) है, उसे दलित पात्र कहा गया। क्या मज़ाक है? एक हाथ मुड़ा हुआ और कथित हीरो भुवन की दया पर निर्भर कचरा। इससे औरों को तो नहीं, अजनबियों को भ्रम हो सकता है कि वास्तविक जीवन में दलित ऐसे होते हैं। भुवन, जो इस फिल्म का नायक है, दलित नहीं हो सकता क्या ? और 'कचरा' क्यों द्विज नहीं हो सकता? फिल्मों में अधिकांशतः दलित पात्रों का या तो नकारात्मक चित्रण होगा या निरीह। वास्तविक जीवन में संघर्ष करता दलित फिल्मी लेखकों को दिखाई नहीं पड़ता।

सबसे दुःखद बात तो यह है कि 'लगान' फिल्म का वही 'कचरा' दलित

समाज का एक महत्वपूर्ण नायक रहा है जो हिंदू धर्म की वर्ण व्यवस्था की विषमता का भरपूर शिकार हुआ। जी हां, उसका नाम है, पालवंलकर बालू। आज के क्रिकेट के बड़े-बड़े सूरमाओं तक को वह नाम याद भी नहीं होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो वह प्रसिद्ध बॉलर था। क्रिकेट खेल के तहत गेंदबाज़ी में सिद्धहस्त होने के साथ सोशल वर्कर भी था। डॉ. अंबेडकर के साथ स्वयं गांधी भी कई बार उनसे मिले थे। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रामचंद्र गुहा ने 'बालू' को डब्ल्यू जी ग्रेस के समानांतर बतलाया है जिन्होंने भारत में क्रिकेट का विकास किया था। कभी अभिषेक बच्चन की असफलता पर अमिताभ बच्चन ने अपना दर्द व्यक्त करते हुए कहा था कि हिंदी फिल्मों में उत्तर भारत के गौरवर्णीय कलाकारों को आसानी से स्वीकृति मिल जाती है। सांवले लोगों को यहां मुश्किल से स्वीकार किया जाता है। अमिताभ बच्चन जब ऐसा कह रहे थे तो फिल्म इंडस्ट्री का पक्ष दिखा गए थे।

'हंस' में कालम लिखने वाली शीबा असलम फ़हमी ने अपने एक लेख में लिखा है, "कुछ वर्ष पूर्व रेडियो पर स्वप्नसुंदरी हेमा मालिनी का साक्षात्कार प्रसारित हो रहा था। उनसे पूछा गया कि 'आपकी सुंदरता पर तो पूरा भारत मुग्ध है, ये बताइए कि आपके पति धर्मेंद्र जी ने आपकी सुंदरता की तारीफ़ कभी की? पहले हेमा शरमाईं, पर जब यह कहा गया कि उन्होंने कोई तो याद रखने लायक प्रशंसा की होगी तो हेमा मालिनी का जवाब था कि वैसे तो वो बहुत बार तारीफ़ करते ही रहते हैं लेकिन एक बात जो मुझे सबसे ज्यादा अच्छी लगी वह थी कि उन्होंने कहा, 'यू हैव आर्यन फीचर्स' (तुम्हारे नैन-नक्श आर्यों जैसे हैं।) यह किसी कल्चरल स्टडीज के पाठ से उद्धृत अंश नहीं है। एक दक्षिण भारतीय व्यक्ति की निजी यादों में से निकला मासूम संस्मरण है जो बिना किसी शस्त्रीय मकसद के बयान हो गया है।" शीबा जी ने इस टिप्पणी को नस्लवादी, क्षेत्रवादी, जातिवादी आग्रहों की बानगी माना है। वे यह कहने से रुक गई हैं कि ये हमारी फिल्मी दुनिया की मानसिकता है। धर्मेंद्र के इस वक्तव्य के मद्देनज़र हम पूरी फिल्मी दुनिया का जातीय विश्लेषण कर सकते हैं। भारतीय राजनीति की तरह यहां भी कुछ जाति-परिवारों का बोलबाला है। यही बॉलीवुड की आंतरिक बनावट है। इसमें दलितों का 'प्रवेश-निषेध' है, कोई एकाध 'शैलेंद्र' यहां तक पहुंच भी जाता है तो वह दलित जीवन के बर-अक्स नहीं लिख पाता। ये उसकी व्यवसायिक मजबूरियां होती हैं। हालांकि उनकी कहानियों तथा गीतों में अपरोक्ष रूप से आम आदमी के सुख-दुख की गूंज अवश्य होती है।

नेपाली ने हिंदी गीतों को न केवल नई अर्थवत्ता दी, बल्कि आम आदमी की अनुभूतियों से भी जोड़ा। 'हम धरती क्या आकाश बदलने वाले हैं, हम तो कवि हैं, इतिहास बदलने वाले हैं।' वह 1944 से 1963 तक मृत्युपर्यंत बंबई (मुंबई) में फिल्म जगत से जुड़े रहे। ए.ए. नाडियाडवाला व प्रकाश झा प्रोडकशंस की फिल्म 'आरक्षण' 20।। के मध्य में प्रदर्शित की गई। फिल्म के निर्देशक स्वयं प्रकाश झा हैं। फिल्म के गीत प्रसून जोशी ने लिखे हैं। कई प्रदेशों में इसका दलित समाज के कार्यकर्ताओं के द्वारा विरोध हुआ। परिणामस्वरूप तीन राज्यों कर्नाटक, पंजाब और उत्तर प्रदेश में फिल्म प्रतिबंधित कर दी गई। अनुसूचित जाति के राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष पी.एल. पूनिया ने विरोध दर्ज कर अप्रिय संवादों एवं दृश्यों को हटाने के लिए प्रकाश झा को राज़ी किया। निर्माता-निर्देशक प्रकाश झा संवेदनशील विषयों पर फिल्में बनाने के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने इस फिल्म में भी कई मुद्दों को एक साथ दिखाया। अपनी इस फिल्म में उन्होंने परिवार, दोस्ती, प्यार और सेवा की पृष्ठभूमि पर कोचिंग क्लासिस जैसे संवेदनशील मुद्दे को रूपहले पर्दे पर दर्शाने की कोशिश की है लेकिन उस पर 'आरक्षण' का तड़का लगाया गया। इस तड़के की

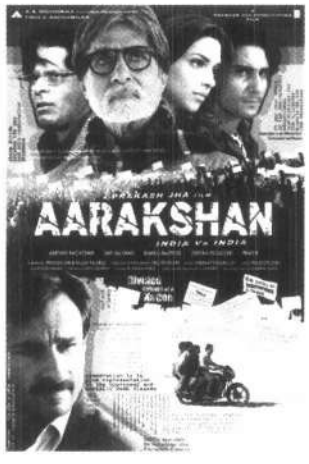
दलित जीवन की यथार्थवादी कहानियों की कमी नहीं है। जरूरत है सिर्फ इच्छाशक्ति की। दलित सवालों, समस्याओं से जूझे बिना दलित जीवन पर गंभीर फिल्में नहीं बन सकतीं। आज कितने प्रोड्यूसर, डायरेक्टर, राइटर और एक्टर हैं, जिन्होंने दलित साहित्य के तहत आत्मकथा, उपन्यास और कहानियां पढ़ीं। हिंदी या अन्य भाषाओं की फिल्मों का मूल यही है कि ऐसी फिल्में, जिनमें देवी-देवता हों, अबला नारी हो, मंदिर हों जहां घंटे बजा-बजाकर नायिका भगवान से सुरक्षा की मांग करती हो।

वजह से प्रचार और हंगामा हुआ। फिल्म की कहानी प्रिंसीपल प्रभाकर आनंद (अमिताभ बच्चन) के इर्द-गिर्द घूमती है जो कालेज में गणित पढ़ाते हैं और अपने कालेज को राज्य का सबसे बेहतर कालेज बनाना चाहते हैं। ईमानदारी और सिद्धांतवादी तरीके से वह कालेज चलाते हैं। उनका कालेज प्रदेश में नंबर वन कालेज कहलाता है। प्रभाकर का शिष्य दीपक (दलित पात्र) अपने सर के लिए कुछ भी कर सकता है।' आरक्षण के मुद्दे पर उनकी बेटी, मिरा सुशांत और दीपक में मतभेद हो जाता है। 'आरक्षण' फिल्म का मुख्य कथ्य शिक्षा के बढ़ते कारोबार पर है, उसके व्यापारीकरण पर है। बच्चों के लिए नर्सरी तक में प्रवेश पाना कठिन हो रहा है। इसके लिए भी बच्चों को कोचिंग क्लासेस अटैंड करनी पड़ती है। फिल्म का ताना-बाना 'कोचिंग क्लासेस' के इर्द-गिर्द बुना है। पटना के अधिकांश सुपर डर्टी कोचिंग ग़रीब बच्चों के लिए चर्चित हैं। वहां के सभी बच्चे आई.आई.टी. में शतप्रतिशत चयनित होते हैं। संचालक आनंद जी, फिल्म में प्रभाकर आनंद के रूप में हैं। कोचिंग इंस्टीट्यूट सुपर डर्टी का नाम सुपर तावेला रखा गया है और आरक्षण मुद्दे पर बहस जारी होती है। देखा जाए तो फिल्म न ही दलितों की पेरवी करती है न इसमें संदेश है। आरक्षण एक पेचीदा विषय अवश्य हो गया है और इसे लेकर समाज के अलग-अलग वर्गों की राय भिन्न-भिन्न है। संवेदनशील और यथार्थपरक विषयों पर फिल्म बनाते समय फिल्मकार कल्पना और नाटकीयता का सहारा लेते हैं। कहानी को कथ्य के धरातल पर परखें तो शीर्षक 'आरक्षण' होता ही नहीं है। शिक्षा के व्यापारीकरण पर केंद्रित फिल्म का नाम 'आरक्षण' रखना प्रोडक्शन हाउस की मानसिकता को अवश्य उजागर करता है। इस तरह 'आरक्षण' को विरोधी फिल्म मानकर दलित संगठनों ने विरोध किया। कथित विवादास्पद दृश्यों-संवादों को हटाने पर राज़ी होने पर फिल्म को प्रदर्शित करने पर दलित संगठनों की सहमति हुई। फिल्म में डॉ. प्रभाकर आनंद अपने एक संवाद में आरक्षण का समर्थन करते हुए कहते हैं, "जाति से उपजी समस्या का समाधान जाति आधारित होगा। यह आर्थिक आरक्षण की पैरवी का विरोध है।"

ऐसा माना जाता है कि मलयालम सिनेमा अन्य भारतीय भाषाओं के सिनेमा से ज्यादा देश के विभिन्न हिस्सों से संबंधित होता है लेकिन आज के मलयालम फिल्मकार भी स्त्रियों एवं दलितों की समस्याओं का चित्रण करने के लिए तैयार नहीं। स्त्रियों से संबंधित फिल्में मलयालम में बनी तो हैं, मगर उन फिल्मों में सवर्ण स्त्रियों की छवि ही दिखाई पड़ती है। वहां भी दलित स्त्रियां बाहर कर दी गई हैं। इन सभी मामलों की छानबीन करके सच्चाई को लाने के लिए एक समर्थ दलित स्त्रीवादी समीक्षा का उदय नहीं हुआ है। केरल के सिनेमा समीक्षकों एवं स्त्रीवादियों ने इस समस्या को छिपाने की या छिपाकर रखने की कोशिश की है। इस भूल के पीछे ध्यान से देखें तो बहुत सारे प्रबुद्ध

फिल्मकारों, समीक्षकों और स्त्रीवादी समीक्षकों की सवर्ण मनःस्थिति का पर्दाफाश हो जाएगा।

दलित स्त्री के अस्तित्व संबंधी समस्या को तीन स्तरों पर विभाजित करके विचार किया जा सकता है। प्रथम, वह सवर्णों के जातिगत द्वेष का कारण बन जाती है। दूसरा, अधिकांश सवर्ण महिलाओं एवं अल्पसंख्यक धर्मानुयायी महिलाओं के जाति-धर्मगत आधिपत्य के कारण उन्हें दबाव में रहना पड़ता है और तीसरा एक स्त्री होने के नाते दलित पुरुषों के भी दबाव में रहना पड़ता है। इस तरह अत्यधिक संकीर्ण मामलों से गुज़रते हुए दलित स्त्री की समस्या व्यापक रूप ग्रहण कर लेती है। मलयालम सिनेमा सवर्णों की वर्चस्ववादी संस्कृति का साथ देता है। मलयालम के ही सिनेमा-समीक्षकों ने इस स्थिति में जातिवादी रुख़ अख्तियार कर लिया है। गोरे शरीर वाले सफेद धोतीधारियों और सवर्ण लड़कियों के बग़ैर सांवली, दुबली-पतली, दलित स्त्री का चित्रण मलयालम सिनेमा में कब होगा? इस सवाल का जवाब देना दलित राजनैतिक कार्यकर्ताओं और दलित स्त्रीवादियों को आज नहीं तो कल देना ही होगा। सवर्ण आधिपत्य का साथ देने वाले मलयालम सिनेमा में दलित स्त्रियों की समस्याओं की प्रस्तुति के लिए जगह पाना दलित समाज की ऐतिहासिक जरूरत बन गई है। इधर एक-दो दशक से फिल्म निर्माण तथा निर्देशन में महिलाओं ने भी ज़ोरदार दस्तक दी है। फिल्म निर्माता व निर्देशिका मीरा नायर, फ़राह खान, नंदिता दास, गुरंदर, एकता कपूर और गौरी ख़ान का नाम तो प्रमुखता से लिया जा सकता है लेकिन कुछ वर्षों से फिल्म कैनवास पर नए चेहरे भी अपने हुनर का रंग बिखेरने में प्रयासरत हैं। जहां प्रीति अनेजा ने ग्रामीण परिवेश की कुप्रथा को 'काला पानी' में उठाया वहीं मंजू वर्मा ने पारिवारिक समस्याओं को 'द वायस ऑफ लाइफ' में शिद्दत के साथ उठाया। सुधीर सागर जो पेशे से डाक्टर हैं, लेकिन पिछले दस वर्षों से भी अधिक समय से वृत्तचित्र स्तर पर लेखन तथा निर्देशन से जुड़े हैं, उनका कहना है कि जहां फिल्म मनोरंजन का साधन है वहीं दूसरी ओर सामाजिक-विमर्श का भी माध्यम है। अपनी फिल्मों के बारे में स्वयं मंजू वर्मा का कहना है कि 'ब्लैक फ़ेस' एक अर्धविक्षिप्त दलित लड़की की पीड़ा और व्यथा है। विषम परिस्थितियों से जूझते हुए किस प्रकार से उसका जीवन प्रभावित होता है और वह पागल हो जाती है। डॉक्यूमेंट्री एवं लघु फिल्म डायरेक्टर मंजू वर्मा दो-तीन वर्षों से ज्वलंत विषयों पर काम कर रही हैं। 'ब्लेक फ़ेस' का लेखन व निर्देशन सुधीर सागर ने किया है। फिल्म 'ब्लेक फ़ेस' सामाजिक परिवर्तन का दंभ भरने वालों के सामने अनगिनत सवाल लेकर आती है। देखा जाए तो हाशिए के लोगों के दर्द को बयान करती कृतियों का अभाव नहीं है। सिर्फ ईमानदारी से उनके फिल्मांकन की जरूरत है। पिछले दो दशक पूर्व कमलेश्वर से मुंबई स्थित अंधेरी में उनके निवास पर इसी विषय पर हुई बातचीत में मैंने कहा था। यह उस दौर की बात है जब उनके भीतर दलित साहित्य के लिए मानसिक स्तर पर परिपक्वता आ चुकी थी। इस बारे में उनकी मुंबई और पुणे में दया पवार, अर्जुन डांगले, बाबूराव बागुल, नेरूरकर, मेश्राम आदि से बराबर मुलाकातें भी होती रहती थीं और उनके संपादन में 70 के दशक में यानी मई, 1975 में 'सारिका' का मराठी दलित-साहित्य विशेषांक भी प्रकाशित हुआ था। जो बाबा साहेब डॉ. अंबेडकर के जन्म दिवस के संदर्भ में उनकी स्मृति को सादर समर्पित किया गया था। साथ ही बाद के दौर में उन्होंने लगभग पचास फिल्मों की कहानी से लेकर संवाद और पटकथा भी लिखी थी। हालांकि उन्होंने स्वयं दलित लेखकों की रचनाओं को इकट्ठा करने की पहल भी कुछ साथियों के सहयोग से की थी लेकिन 'और भी ग़म हैं ज़माने में' उनके भीतर अन्य विषयों की पूरी फ़ेहरिस्त भी थी, केवल दलित कहानी/अस्मिता के सवाल पर वे ज्यादा उलझना भी नहीं चाहते थे।[5]



दलित जीवन की यथार्थवादी कहानियों की कमी नहीं है। जरूरत है सिर्फ इच्छाशक्ति की। दलित सवालों, समस्याओं से जूझे बिना दलित जीवन पर गंभीर फिल्में नहीं बन सकतीं। आज कितने प्रोड्यूसर, डायरेक्टर, राइटर और एक्टर हैं, जिन्होंने दलित साहित्य के तहत आत्मकथा, उपन्यास और कहानियां पढ़ीं। हिंदी या अन्य भाषाओं की फिल्मों का मूल यही है कि ऐसी फिल्म, जिनमें देवी-देवता हों, अबला नारी हो, मंदिर हों जहां घंटे बजा-बजाकर नायिका भगवान से सुरक्षा की मांग करती हो।

दलित-आदिवासियों के नाम पर डाक्यूमेंट्री से लेकर फीचर फिल्म बड़ी मात्रा में बन रही हैं। राज्य और राष्ट्रीय स्तर से इतर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर फिल्म-महोत्सव भी होते हैं। उनमें उन्हीं की भागीदारी अधिक होती है जो ग़रीब के खून और पसीने की एक-एक बूंद को सौंदर्यबोध के रूप में अपनी-अपनी फिल्मों में प्रस्तुत करते हैं। डी.डी. राऊत मानव ने शायद उसी पर व्यंग्य किया है–

ये नासूर, मवाद और कीड़े
बढ़ते ही जा रहे हैं/ अनवरत चेहरे से नीचे मेरे
मगर मैं व्यथित हूं/विदेशों में होने वाले
भारतीय महोत्सवों में/जहां टांगना है मुझे
सुनहरे चौखटों में तस्वीर/लगाकर अपने हिसाब से।

जुगनू शारदंय अपने आलेख 'सिनेमा के भरोसे वैचारिक क्रांति?' में लिखते हैं कि इन तीन फिल्मों के बहाने मुझे कुछ कहना है। पहली फिल्म 'अछूत कन्या', दूसरी फिल्म है 'दो बीघा ज़मीन' और तीसरी हाल की फिल्म–जिसे भारत सरकार ने सर्वश्रेष्ठ माना है–'पान सिंह तोमर' की चर्चा करना जरूरी है। इन तीनों फिल्मों में अपने काल का भारत है, क्योंकि इनमें गांव हैं। तीनों का विषय आज भी, अभी भी प्रासंगिक है। इन तीनों में 'अछूत कन्या' को छोड़कर एक ही ख़ासियत है कि उसमें सपना नहीं है। और 'अछूत कन्या' का सपना आज भी एक सपना ही है। वैसे 2012 में आई 'शूद्रा द राइजिंग' को दलित दृष्टिकोण से एक सार्थक फिल्म कहा जा सकता है। इसका निर्देशन संजीव जायसवाल ने किया है। शूद्र का उदय किस प्रकार हुआ, उनके जीवन के संघर्ष का चित्रण, सामाजिक संरचना को दर्शाना इस फिल्म का प्रबल पक्ष है।

संदर्भ

1. मारुतिशेलके, कला, कलाकार और बाज़ारवाद, सामान्यजन संदेश (सफ़र के सौ कदम-विशेषांक) मानद संपादक प्रकाश दुबे, लोहिया अध्ययन केंद्र, सुभाष मार्ग, नागपुर 440018, 2013, पृ. 125
2. प्रमोद मीणा, दलित की नज़र में सुजाता, बयान, नवंबर, 2010, पृ. 15
3. सत्यदेव त्रिपाठी, समानांतर हिंदी फिल्मों में दलित चेतना, वागर्थ, जून, 2004, पृ. 68 वही, पृ. 69
4. सुधीर सागर, संवेदनशील विषय पर आरक्षण फिल्म बयान, सितंबर, 2011, पृ. 58
5. मेरे लिए आर्थर रोड जेल की एक कोठरी तैयार है, कथाकार, संपादक कमलेश्वर से मोहनदास नैमिशराय की बातचीत, संडे मेल, जुलाई, 1992

संपर्क : बी.जी. 5 ए/30 बी, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

उर्दू शायरी में 'गीता' की शिक्षा

बानो सरताज

गीता की शिक्षा वस्तुतः अध्यात्म की शिक्षा है। मुंशी सूरज नारायण 'मेहर' देहलवी गीता के अध्यात्म का स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं–

"कुरुक्षेत्र ज्ञान के अधिकारी 'मानव' का शरीर है, जिसमें महाभारत का युद्ध घट-घट में होता है। अर्जुन 'जीव' का नाम है जो राज्य खो बैठा है। राज्य सच्चिदानंद स्वरूप मोक्ष है जिसे अंधे ज्ञान धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने छीन लिया है...वह संसार को धोखे में फंसाने वाला है। तामसी अंधकार पर कठिनाई से विजय पाई जाती है। उसके पीछे असीम सेना है। यह सेना हृदय में दुर्भावनाएं उत्पन्न करती हैं जो आत्मा को भुलावे में डालने वाली हैं। 'जीव' के समर्थकों की संख्या विशाल है। इनमें अर्जुन के भ्राता भीम, युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव क्रमशः अंतःकरण, सात्विक मन, चित्रबुद्धि और अहंकार के द्योतक हैं। श्रीकृष्ण गुरुरूप प्रबुद्ध आत्मा हैं जो परम दया और कृपा से अधिकारी जीव-अर्जुन की रक्षा करते हैं। उनका कार्य, मात्र मार्गदर्शन तथा अधिकारी को संकटों की पूर्व सूचना देना है। वे सारथी बनकर बैठते हैं, हथियार नहीं उठाते। संघर्ष अधिकारी को करना पड़ता है। यह आध्यात्मिकता का रहस्य है। गुरु मार्ग बताता है, अंक में लेकर स्वयं मार्ग तय नहीं करता। आरंभ में गुरु बाह्य रूप में मिलता है और उपदेश करता है। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है उसका स्थान उच्च होता है। गुरु आदर्श बन जाता है। साक्षात् दर्शन देता है। धर्मयुद्ध में विजय प्राप्त करता है और मोक्ष राज्य का स्वामी बनता है। आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है।"

हिंदू धर्म और अध्यात्म एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं। इस अध्यात्म को समझने के लिए भारतीय संस्कृति की जड़ों तक पहुंचना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन के तीन मुख्य पहलू हैं–इल्म (ज्ञान), अमल (कर्म) और इश्क़ (भक्ति)। गीता का मूल कर्म है।

श्रीकृष्ण की गीता की शिक्षा का स्पष्टीकरण सरल नहीं है। गहन चिंतन के पश्चात् मूल्यवान विचार-मोती हाथ आते हैं। यदि बुद्धिमता से सहेजे जाएं तो जीवन संवार देते हैं, मृत्यु को स्वीकार्य बनाकर मोक्ष की प्राप्ति करा देते हैं। श्रीकृष्ण के मुख से गीता में जो विचार और दर्शन प्रस्तुत हुए हैं, उन्हें निसार अहमद फ़ारूक़ी ने इस प्रकार पेश किया है :

> "मोक्ष का संबंध कर्म से है। 'गीता' में बैराग की शिक्षा नहीं अपितु संयम और इच्छाओं के दमन पर बल दिया गया है। कर्म के अभाव में कुछ भी संभव नहीं है। यदि हम कर्म के फल का विचार हृदय से निकाल दें तो कर्म ही पूजा, प्रार्थना, आराधना बन जाता है। गीता में कर्म का जो दर्शन प्रस्तुत किया गया है एवं कर्म से फल, लाभ और उद्देश्य प्राप्त करने का जिस प्रकार से आग्रह किया गया है उसकी रौशनी में यदि ग़ौर करें तो वह उपकार का, एहसान का दर्शन है।
>
> –'भगवत् गीता' के अनुसार दुख-दर्द के कारण हम अपने कर्मों पर ध्यान नहीं देते, मात्र लाभ और फल को केंद्र में रखते हैं...इसी का नाम 'इच्छा' है। इच्छाएं मानव को अपने दाम में गिरफ़्तार कर लेती हैं, बंदी बनाए रखती हैं और इसीलिए मानव (हिंदू धर्म के अनुसार) आवागौण के चक्कर में पड़ता है। जब इच्छाएं दरम्यान से निकल जाएंगी तो यह चक्कर ख़त्म हो जाएगा। अपना एक निश्चय समाप्त होगा तो कर्म किसी दूसरे निश्चय के अधीन हो जाएंगे जिसकी कोई सीमा नहीं।

निष्काम कर्म में कृष्ण ने परिणाम, लाभ और स्वार्थ को अलग रखने को कहा है। 'गीता' के अनुसार हमारे दुख-दर्द का मुख्य कारण यही है कि हम अपने कर्म पर दृष्टि नहीं रखते बल्कि उसके फल और लाभ का हिसाब करते हैं। इच्छाएं अनंत होती हैं...और मानव को अपने वश में कर लेती हैं। इनके कारण ही वह आवागौण के चक्कर में फंस जाता है। इच्छा यदि बीच से हट जाती है तो कर्म अपने-आप इबादत या भक्ति बन जाता है। 'गीता' में संसार को त्यागने पर नहीं बल्कि इच्छाओं के दमन और हृदय की विजय प्राप्ति पर बल दिया गया है, 'भगवत् गीता' का प्रस्तुत श्लोक सर्वाधिक लोकप्रिय माना जाता है क्योंकि यह श्रीकृष्ण की शिक्षा का सार है–

कर्मण्ये वाधिका रस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सडो त्व कर्मणि।।
(निष्काम कर्म करो, फल की आशा मत रखो)

ख़्वाजा दिल मुहम्मद ने इसे यों पंक्तिबद्ध किया है–

तुझे कर्म करना है ओ मर्द-ए-कार
नहीं इसके फल पर तुझे अख़्तियार
किए जा अमल और न ढूंढ, इसका फल
अमल कर, अमल कर, न हो बे-अमल।।

मुंशी हीरा लाल ने उपरोक्त श्लोक को उर्दू में रूपांतरित करते हुए इस बात पर बल दिया है कि जब धर्म का फल मनुष्य के हाथ में नहीं है तो वह क्यों उसके लिए बेकल हुआ जाता है–

आमाल का अपने तू है मुख़्तार
वाजिब नहीं अमर-ए-हक़ से इंकार
दिल समर के वास्ते न कर चूर
क़ाबू से तेरी नतीजा है दूर
ख़्वाहिश से न कर अमल की तकमील
कर फ़र्ज़ समझ कर दिल से तामील।

कैफ़ी देहलवी ने इस श्लोक को उर्दू जामा पहनाते हुए फल और नतीजे की उलझन में न पड़ने पर बल दिया है–

क्योंकि यह फ़र्ज़ है, कर इसलिए तू फ़र्ज़ अदा
इसके फल और नतीजे की न उलझन में जा।
ग़ौर से सुन, तू समझता है जिसे दिल या मन
इसके अंदर तू जला, भक्ति की पाकीज़ा अगन।।

मुनव्वर लखनवी ने श्रीकृष्ण के इस कथन को उर्दू का रूप कुछ यों

दिया है–

तुमको तो फ़क़त है काम से काम
लाज़िम नहीं ज़िक्र-व-फ़िक्र-ए-अंजाम
फिर काम के फल से लौस क्यों हो?
फिर अजर अमर से लौस क्यों हो?
जब काम के वास्ते हो तय्यार
फल से हर्गिज़ न हो सरोकार।।
बेकार मगर कभी न रहना
दरिया की तरह मदाम रहना।।

कैफ़ी आज़मी ने इस शिक्षा को निम्नलिखित रूप से काव्यबद्ध किया है–

दिल जिसे इश्क़-ओ-एहसास-ओ-अमल मानता है
ज़िंदगी सिर्फ़ अमल, सिर्फ़ अमल, सिर्फ़ अमल।।

साहिर लुधियानवी ने कर्म के दर्शन को प्रकट करते हुए कहा है–

जन्म से कोई नीच नहीं
जन्म से कोई महान नहीं
कर्म से हटकर किसी शख़्स की
कोई भी पहचान नहीं।

इसी प्रकार एक अन्य श्लोक है–

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति
तस्यहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति।।
सर्व भूतास्थतं यो मां भजत्येकत्व मास्थितः
सर्वथा वर्त मानो पि स योगि मयि वर्तते।।

एक शायर ने बड़ी कुशलता से इस श्लोक के अर्थ को ग्रहण कर उर्दू में परिवर्तित किया है–

रूप मेरा देखता है हर बशर में जो कोई
और मुझी में देखता है आत्मा सब की बसी।
मैं हूं फिर उसकी नज़र में, उसमें मेरी रौशनी
एक हैं उसकी नज़र में 'जीव' दुनिया के सभी
मुझको भेजकर दो–जहां में जिस तरह चाहे रहे
उसमें मेरी आत्मा है और वह पाता है मुझे।

पुनर्जन्म के संबंध में कवियों ने शेर कहे हैं। उर्दू के मुस्लिम शायर चाहे पुनर्जन्म पर विश्वास न रखते हों, गीता के दर्शन को मुखर अवश्य करते हैं–

जिस तरह से है बशर का दस्तूर
करता है लिबास-ए-कुहना को दूर
पोशाक नई बदलता है रोज़
है जां का तरीका भी इसी तौर।

कैफ़ी आज़मी ने इस दर्शन को तनिक विस्तार से वर्णित किया है–

एक ही शक्ल उभरती है आईने में
आत्मा मरती नहीं, जिस्म बदल लेती है
धड़कन इसके सीने की जा छुपती है उस सीने में
और जिस्म लेते हैं जनम, जिस्म फना होते हैं
और जो इक रोज़ फ़ना होगा वह पैदा होगा
एक कड़ी टूटती है दूसरी बन जाती है
ख़त्म यह सिलसिला-ए-ज़ीस्त क्या होगा?

निहाल सुहरवर्दी ने 'गीता' की शिक्षा का वर्णन करते हुए कहा है कि जीवन एक असीम सागर की भांति है जिसकी गहराई नापना सरल नहीं तथा जीवन-मृत्यु शाश्वत सत्य हैं–

उसने समझाया के बहर-ए-बे-करां है ज़िंदगी
आरज़ी उसको न कहना जाविदां है ज़िंदगी
रिश्ता-ए-अनफ़ास-ए-हस्ती टूटने वाला नहीं
जिसके दाने हों परागंदा यह वो माला नहीं
वहम-ए-बातिल नक़्शबंद-ए हलक़ा-ए-सय्याद है
ज़िंदगी वरना फ़ना से मुतलक़न आज़ाद है
रहनुमा-ए-ज़ुलमत-ए-आफ़ाक है क़नदील-ए-फ़र्ज़
ज़िंदगी की गायत व मक़्सूद है तकमील-ए-फ़र्ज़
क्यों हिरासां है, फ़ना से तू, फ़ना कुछ भी नहीं
मौत एक नक़्ल-ए-मकानी के सिवा कुछ भी नहीं।

ख़्वाजा दिल मुहम्मद कर्म-योग और कर्म-योगी की पहचान कराते हैं–

है ज्ञान उनका रस्ता जो ज्ञानी हैं लोग
जो योगी हैं धरम के, उनका है कर्मयोग।
के इंसां कभी, तर्क-ए-आमाल से
रहा हो न कर्मों के जंजाल से
मगर ले क़वा-ए-अमल से जो काम
करे पहले मन से हवास अपने राम
लगावट न उसको, समर का ख़्याल
तो है कर्मयोगी वह बा-कमाल।।

ज़फ़र अली खां श्रीकृष्ण की उस तालीम को जो 'गीता' में दी गई है, संसार के दुखों का नाश करने वाली तथा संसार को सुखमय बनाने वाली मानते हुए कहते हैं–

अगर किशन की तालीम आम हो जाए
तो काम फ़ितना-गरों का तमाम हो जाए।

संदर्भ-ग्रंथ

1. आजकल, उर्दू मासिक : नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग दिसंबर 1993।
2. आजकल, उर्दू मासिक : नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, फरवरी, 1970।
3. क़िरतास, उर्दू मासिक : नागपुर, अहबाब कालोनी, सितंबर-अक्तूबर 2004।
4. मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी 'अंग्रेज़ों की उर्दू शायरी' उर्दू दुनिया मासिक, नई दिल्ली, फरवरी 2012
5. राष्ट्रीय सहारा, उर्दू मासिक : दिल्ली नवंबर, 1992।
6. रूह-ए-अदब, उर्दू मासिक : कोलकाता, पं. बंगाल, उर्दू अकादमी, नवंबर 1997।
7. सय्यद गुलाम रब्बानी अयाज़ (डॉ) 'एक नायाब शायर', चश्मा-ए-उर्दू रायपुर, छत्तीसगढ़, उर्दू एकादमी, अक्तूबर-दिसंबर 2014
8. हिंदुस्तानी, उर्दू रिसाला : इलाहाबाद, अप्रैल-जुलाई 1946
9. European and Indo-European Poets of Urdu and Persian, Lucknow, Naval Kishor Press

संपर्क : आकाशवाणी के सामने, सिविल लाइंस, चंद्रपुर-442401 (महाराष्ट्र)

उत्तरी ध्रुव के अनुभवों में सराबोर

न्यूयॉर्क में रहने वाली प्रीति सेनगुप्ता, भारत की प्रथम व विश्व की तृतीय महिला यात्री हैं जिन्होंने नितांत अकेले विश्व के सातों महाद्वीप की सैर की है। ये अहमदाबाद की बेटी हैं। इन्होंने अंग्रेज़ी में एम. ए. करके कॉलेज में पढ़ाना आरंभ कर दिया था लेकिन आगे शोध के लिए वो अमरीका गईं। उन्हें वहां 'होम सिकनेस' सताने लगी तो वे उससे छुटकारा पाने के लिए यूरोप घूमने निकल गईं। उन्हें लगा कि इस पर्यटन ने उन्हें आंतरिक रूप से समृद्ध किया है फिर तो जुनून की तरह वे पर्यटन करने लगीं। वह छह महीने न्यूयॉर्क में रहकर अर्थोपार्जन करतीं, छह महीने अलग-अलग देश में घूमतीं। एक सुखद आश्चर्य की बात है कि बत्तीस पुस्तकों की लेखिका, अनेक भाषाओं की जानकार व कवयित्री प्रीति को गुजराती साहित्य परिषद् के सात पुरस्कार मिल चुके हैं। वे सन् 1989 में नेवी के जहाज में अस्सी लोगों के साथ दक्षिणी ध्रुव की यात्रा कर चुकी थीं। सन् 1992 में कोलंबस को अमरीका ढूंढे पांच सौ साल होने जा रहे थे इसलिए उन्होंने अपना उत्तरी ध्रुव अभियान उन्हें समर्पित करते हुए पूरा किया था। प्रस्तुत है प्रीति सेनगुप्ता की रोमांचक यात्रा उन्हीं की ज़ुबानी—

कनाडा झीलों का देश है, जहां से हमें उत्तरी ध्रुव यानी आर्कटिक की यात्रा पर जाना था। मैं जब भी किसी देश की यात्रा करके अमरीका लौटती हूं तो कुछ दिन बाद ऐसा लगने लगता है कि देश मुझे पुकारते हैं। इस बार मुझे उत्तरी ध्रुव पुकार रहा था जहां समुद्र ही समुद्र है, वहां के लगभग 70 डिग्री ताप में जमा हुआ रहता है। कहते हैं उछलते-कूदते, उफान मारते समुद्र को बांधना मुश्किल है लेकिन समुद्र खुद इतने कम ताप में ठिठुरकर, बंधकर जम जाता है। सर्द बर्फ बन जाता है। कनाडा की सीमा से पहले का समुद्र जमा हुआ था। इसलिए वहीं से हमें स्लेज पर यात्रा आरंभ करनी थी। मैं ये सोचकर रोमांचित हो रही थी कि दक्षिणी ध्रुव की यात्रा के अनुभव का मैं बिलकुल विपरीत अनुभव करने जा रही हूं। दक्षिणी ध्रुव यानी पृथ्वी के नीचे की तरफ़ का ज़मीन का वह हिस्सा जहां बर्फ ही बर्फ जमी रहती है और जो समुद्र से घिरा रहता है। ओह! उत्तरी ध्रुव पर मुझे देखने को मिलेगा जमा हुआ समुद्र जो ज़मीन से घिरा होगा, यह सोचकर भी दिल धड़क रहा था कि कहीं वापस लौटकर अपने अनुभव भी बता पाऊंगी या नहीं। मैंने कहीं पढ़ा था कि कुछ यात्रियों ने इसी उत्तरी ध्रुव की बर्फ पर कुछ टेंट लगाए थे। वातावरण का ताप बढ़ा, बर्फ पिघली। कोई आइसबर्ग कहीं बह गया, कोई कहीं। इनकी रफ़्तार इतनी धीमी थी कि इनमें सोने वाले यात्रियों को पता ही नहीं चला कि वे कौन से सफ़र पर निकल पड़े थे, कुछ यात्रियों का तो पता ही नहीं चला कि वे कहां गुम हो गए थे, कहीं मैं भी ... नहीं ... नहीं ... मैं ज़रूर लौटूंगी हालांकि इस रोमांचक यात्रा में कुछ यात्रियों की जान भी चली गई।

इस यात्रा की व्यवस्था की थी कनाडा के एक संगठन ने जिसने मेरे साथी यात्रियों को बीस पोशाक दी थी क्योंकि मैं रफ-टफ हूं इसलिए मुझे बारह पोशाक पहनाई थीं। हमारा मुंह मफ़लर की ट्यूब से ढका हुआ था। मैंने पैरों में पहने थे घोड़े के चमड़े के बड़े बूट्स, हाथों में पहने थे मिटन खरगोश की खाल से बने बिना उंगलियों वाले दस्ताने, हमारा खून जमे न, इसलिए हमें बार-बार हाथ-पैरों को झटका देना पड़ता था ।

ये झटका देना कितनी बड़ी मुसीबत होगा, आप समझ ही सकते हैं क्योंकि मैं बारह पोशाक पहने हुई थी। यदि आप मेरी वह फोटो देख लें तो समझेंगे ये कोई हाथी का बच्चा है। मेरे साथ चार अलग-अलग यूरोपीय देश के यात्री थे। हम समुद्र में स्लेज पर स्लीपिंग बैग पर बैठे आगे बढ़ते जा रहे थे। वहां के नेटिव इन्युइट हमारी स्लेज को खींच रहे थे।

अरे ... अरे ... आप बिस्तर या कुर्सी पर आराम से बैठे ये लेख पढ़ते हुए ये मत सोच लीजिए कि हम स्लेज पर आराम से झूला झूलते, मस्ती से चल रहे थे। उफ़! मेरे लिए बताना कठिन है कि वह कैसी कठिन यात्रा थी। बस आप ये समझ लीजिए कि भारत की सड़कों के बम्पर्स पर यदि स्लेज चलाई जाए तो क्या दुर्गति होगी! जब एक ऊंची जगह पर स्लेज चढ़ रही होती तो निःश्वास निकल जाता था, दिल धड़क जाता था फिर झटके के साथ नीचे। उन झटकों से दम निकला जा रहा था । काश! भगवान ने यहां एक बुलडोज़र चलवा कर इस बर्फ को समतल कर दिया होता तो हमारा पोर-पोर तो न दुखता। इन प्राकृतिक बम्परों पर ऊपर व नीचे आने के झटके तो न खाने पड़ते और वह भी कितने दिन? ... पूरे छह दिन।

एक अचरज भरी बात मैं आपको बताने जा रही हूं। इस बीच साथ लाई बोतलों का पानी समाप्त हो चुका था। मेरे साथ वाला इन्युइट पानी के लिए समुद्र की बर्फ खोदने लगा तो मैंने कहा कि मैं आपकी सहायता करूं? उसने इशारे से समझाया कि मैं कैसे पहचानूंगी कि मीठे पानी की बर्फ कौन सी है? कौन से खारे पानी की? फिर उसने बड़ी दिलचस्प जानकारी दी। इतने कम तापमान पर बेचारी हवा भी सूख जाती है। उसकी नमी सिकुड़ते-सिकुड़ते बर्फ बन जाती है। हमारे साथ आए इन्युइट साहब ने वह बर्फ साथ लाए औज़ार से पहचानकर खोदी व स्प्रिट लैम्प से गर्म करके वह पानी पिलाया। अब मत पूछिए कि उस पानी का स्वाद कैसा था? बर्फ की तरह जम गए होठों से कुछ बूंदें बर्फीले पानी को हलक में उतारना मतलब हलक का बर्फीला स्नान कराना। उफ़! कैसा अनुभव था!

हां, एक अनिवर्चनीय अहसास अवश्य था कि हम सारे रिश्ते-नातों से दूर, दोस्तों से दूर, पृथ्वी को छोड़कर यहां से वहां तक फैली एक धवल दुनियां में चले आएं हैं जहां न चिड़ियों का शोर है न सड़क के वाहनों की कान फोड़ती आवाज़। जहां तक नज़र जाती है इस सफ़ेद नीरवता में जैसे शुद्धता बसी हुई है। यही है पृथ्वी का वह छोर जहां छह महीने रात व छह महीने दिन रहता है। जमे हुए समुद्र के चारों ओर का क्षितिज मौन प्रार्थना करता लग रहा था। वहां ऐसा लग रहा था कि ये सारा वातावरण किसी आध्यात्मिक देवत्व में डूबा हुआ है। मैं इस बर्फ पर स्लेज से चलती जा रही थी। मुझे ऐसा लग रहा था कि परमात्मा रचित ये श्वेत देवत्व मेरे अंतरतम को आलोक में नहलाकर, मेरी आत्मा को तृप्त कर संपूर्णता की शांति में नहला रहा था। क्या परमात्मा में आत्मा का मिलन यही था?

मैं इस बात से कोसों दूर जा चुकी थी कि कोलंबस की यात्रा को इस वर्ष सन् 1992 में पांच सौ वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य को सेलिब्रेट करने का

आर्कटिक यात्रा का मेरा जुनून बन गया था। मैं इस बात को भी भूल चुकी थी कि दक्षिणी ध्रुव की यात्रा में अर्जेंटाइना से चलते समय शिप में तीस पुरुषों के साथ मैं अकेली महिला थी। समुद्र की लंबी यात्रा भी बहुत कठिन होती है लेकिन मैंने फिर भी बारह कविताएं लिखी थीं लेकिन यहां तो स्लेज में बैठे-बैठे, बर्फ की चादर पर फिसलते हुए इतनी पोशाकों के बावजूद शरीर ठंड से अकड़ रहा था।

कैसा अहसास होता है उत्तरी ध्रुव पर पहुंचकर, न दिन रहता है न रात का इंतज़ार ... धवल आलोक ... धवल अंधकार ... हम पृथ्वी के उस हिस्से पर थे जहां छह महीने दिन रहता है छह महीने रात रहती है। ग़नीमत है हम दिन वाले समय में यात्रा कर रहे थे। कितना आश्चर्य था कि हम सूरज के इतने निकट थे फिर भी तपिश नहीं थी। उसकी किरणें सफ़ेद बर्फ पर परावर्तित होकर वातावरण को और श्वेत बना रही थीं और सूरज स्वयं यहां से कैसा लग रहा था? अपने ही श्वेत रंग से बौराया आसमान में हमारे सर के ऊपर गोल-गोल चक्कर काटता लग रहा था जबकि सच यह था कि पृथ्वी सूरज की परिक्रमा दे रही थी। ये स्थिति कुछ ऐसी ही थी कि आपकी ट्रेन प्लेटफोर्म पर खड़ी हो और पास से गुजरती ट्रेन से लगता है हमारी ट्रेन चल पड़ी है।

मेरी ही ज़िद थी कि मैं यहां से सूर्यास्त देखूंगी। लोगों ने समझाया कि बर्फ पर खड़े रहकर सूर्यास्त देखना बहुत कठिन है क्योंकि एक जगह खड़े रहने से ठंड के कारण खून जमने लगता है। अपनी इस ज़िद को पूरी करने में मुझे काफी मशक्कत करनी पड़ी क्योंकि हर समय हाथ-पैरों को झटक-झटक कर खून जमने से रोकना पड़ा। ये झटका देना कितनी बड़ी मुसीबत होगी, आप समझ ही सकते हैं क्योंकि मैं बारह पोशाक पहने हुई थी। अमरीका में ये सूर्यास्त 12 बजे होता है यहां पर एक बजे होना था और धीरे-धीरे वह क्षण आ गया। सूरज क्षितिज की तरफ सरकने लगा और सरका और ये क्या उसने बस क्षण-भर क्षितिज का स्पर्श किया और वापस उगने लगा यानी ऊपर उठने लगा यानी दुनिया की दूसरी तरफ सूर्योदय होने लगा। अब आप पूछेंगे हम सोते कहां थे? स्लेज पर रखे हमारे टेंट उठाकर इन्युइट बर्फ में लगा देते थे। उनमें हम स्लीपिंग बैग में सोते थे। वे चार यात्री दो-दो कर एक टेंट में सोते थे। मैं अपने एक टेंट में। उन बर्फीली हवाओं में नींद तो क्या आती थी।

आर्कटिक पर मैं अपनी पहचान छोड़ना चाहती थी क्योंकि मैं पहली भारतीय थी जो यहां आई थी। मैंने बर्फ के बने शिवलिंग पर अपने साथ लाए गणपति की स्थापना की व उन पर सूखे हुए फूलों की पत्तियां अर्पित की थीं। जो ताज़ा फूल लेकर मैं साथ चली थी, मेरे पति चंदन सेनगुप्ता ने मुझे चलते समय गुलाब के ढेरों फूल दिए थे, वे सर्दीली हवाओं में सूखेंगे ही। मैं ऐसी जगह आ गई थी जहां अपनी परछाईं भी साथ छोड़ देती है क्योंकि सूरज सर के ऊपर होता है लेकिन कदमों के निशान ज्यों के त्यों रहते हैं। मैं यहां अपनी पहचान छोड़कर जाना चाहती थी क्योंकि मैं विश्व की तृतीय महिला थी जिसने विश्व के सातों महाद्वीपों की नितांत अकेले यात्रा की थी। ये अलग बात है कि मुझे गुजरात साहित्य अकादमी के सात पुरस्कार मिल चुके हैं लेकिन आप जब मेरी यात्रा-संस्मरण की पुस्तक पढ़ेंगे तो पता लगेगा कि मैं अहमदाबाद की बेटी हूं। मेरी जड़ें भारतीय हैं, शाखा गुजराती व बंगाली, पत्तियां अमरीकन हैं। जो मेरे व्यक्तित्व में फूल खिलते हैं उनके रंगों से मेरे देखे हुए देशों व अनुभवों की सुगंध झड़ती है। लेखन मेरा कर्म है व पर्यटन धर्म।

प्रस्तुति : **नीलम कुलश्रेष्ठ**

संपर्क : ए 2-आकाशनिधि अपार्टमेंट, रेडियो मिर्ची टावर रोड, सेटेलाईट, अहमदाबाद-380015

कविता : **बद्री प्रसाद वर्मा अनजान**

बेटा भी मां का दुश्मन हो गया भाई

एक मां ने
अपने चार बेटों को
पाल-पोसकर
बड़ा किया
उनकी शादी भी कर दी
उनको अपने पैरों पर
खड़ा कर दिया
मां ने सोचा था
बुढ़ापे में ये
हमारे काम आएंगे
हमें सुख देंगे
मां का यह सपना
टूटकर एक दिन
चूर-चूर हो गया
जब चारों बेटों ने
अपनी मां को
अपने घर में रखने से
इंकार कर दिया
मां बुढ़ापे में
दर-दर की ठोकरें खाने लगी
बेटों और बहुओं की
हैवानियत देखकर
आंसू बहाने लगी
बेटों को मां की बदनसीबी पर
ज़रा भी दया नहीं आई
मां की सूरत भी देखना
उन्हें नहीं भाई
मां बोली भगवान
यह कैसी परिस्थिति आई
बेटा भी मां का दुश्मन हो गया भाई!

संपर्क : गल्लामंडी गोला बाज़ार, गोरखपुर-273408 (उ.प्र.)

साहिर लुधियानवी के
फ़िल्मी गीतों में सांप्रदायिक चेतना

रतनलाल

'तू हिंदू बनेगा ना मुसलमान बनेगा, इंसान की औलाद है इंसान बनेगा

x x x

नफ़रत जो सिखाए वह धर्म तेरा नहीं है, इंसान को रौंदे वह कदम तेरा नहीं है

x x x

मालिक ने हर को इंसान बनाया, हमने उसे हिंदू या मुसलमान बनाया'[1]

उपर्युक्त तहरीरों के ज़रिए बशर की ज़िंदगी में इंसानियत का रंग भरने वाली शख़्सियत को फिल्मी और अदबी दुनिया में साहिर लुधियानवी के नाम से पहचाना जाता है। उनकी पैदाइश 8 मार्च 1921 को लुधियाना के एक जागीरदार घराने में हुई। उनका वास्तविक नाम अब्दुल हयी था। उनके नामकरण के पीछे भी एक दिलचस्प वाक़या है। साहिर अब्दुल हयी नामक पड़ोसी को अपने बेटे के माध्यम से गाली देने के लिए उनके पिता फ़ज़ल मोहम्मद ने उनका नाम अब्दुल हयी रखा। अब्दुल हयी से 'साहिर' तक के सफ़र के पीछे भी एक रोचक घटना है। कहते हैं जिन दिनों उन्होंने शायरी लिखना शुरू किया, उनकी नज़र अल्लामा इक़बाल के इस शेर पर पड़ी—

इस चमन में होंगे पैदा बुलबुल-ए-शीराज़ भी
सैकड़ों साहिर भी होंगे साहिब-ए-एज़ाज भी

और इसमें 'साहिर' शब्द उन्हें इतना पसंद आया कि उन्होंने अपना तख़ल्लुस साहिर (जादूगर) रख लिया।



साहिर ने जब लिखना शुरू किया तब उर्दू शायरी में इक़बाल, जोश, फ़ैज़ तथा फ़िराक़ गोरखपुरी जैसे नामी शायरों की तूती बोल रही थी, लेकिन साहिर ने अपना विशेष लहजा और रुख़ अपनाया, उससे न सिर्फ़ उनकी अपनी अलग पहचान बनी बल्कि वे शायरी की दुनिया पर छा गए—

ले देके अपने पास फ़क़त इक नज़र तो है
क्यों देखें ज़िंदगी को किसी की नज़र से हम[2]

रोजी-रोटी के लिए उन्होंने बंबई का रुख़ किया ताकि फिल्मों में गीत लिख सकें। गीतकार गुलज़ार ने लिखा है, "साहिर लुधियानवी का दायरा बहुत बड़ा है। ये पहली बार हुआ कि शायर ने फिल्म मीडियम को नहीं अपनाया बल्कि मीडियम ने शायर को अपना लिया। वो जैसा लिखता था, वैसा ही लिखता रहा।"[3] फिल्मी गीतों के माध्यम से साहिर ने आम आदमी से संबंधित सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक मुद्दों को तरजीह दी। 'साहिर के संदर्भ में यह याद रखना जरूरी है कि अदब की दुनिया में प्रतिष्ठा कायम करने के बाद ही वे फिल्म उद्योग में गीतकार की हैसियत से गए थे।[4] उन्होंने सिद्धांतों को ताक पर रख कर बाज़ारवाद से कभी समझौता नहीं किया। अपनी शर्तों पर वे गीत लिखते रहे—

मुझे इंसानियत का दर्द बख़्शा है क़ुदरत ने
मिरा मकसद फ़क़त शोला-नवाई हो नहीं सकता[5]

साहिर सांप्रदायिकता को इंसानियत के दामन पर बदनुमा दाग़ मानते थे। 'सांप्रदायिकता एक मनोवृत्ति है जिसमें विशिष्ट संप्रदाय, जाति या वर्ग के व्यक्ति अपने हितों एवं अधिकारों के लिए दूसरे संप्रदाय, जाति या वर्ग के हितों एवं अधिकारों पर कुठाराघात करते हैं। यह एक भावना है जो धर्म, भाषा, जाति पर आधारित होती है तथा राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके सांप्रदायिक हितों को महत्त्व प्रदान करती है।[6] साहिर लुधियानवी के फिल्मी गीतों का बारीकी से विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सांप्रदायिकता और जातिवाद के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद की है। 'धर्मपुत्र' (1961) फिल्म के गीत के माध्यम से यह तथ्य प्रकट होता है—

जिस राम के नाम से खून बहे उस राम की कीमत क्या होगी
जिस दीन के हाथों लाज लुटे उस दीन की कीमत क्या होगी
इंसान की इस ज़िल्लत से परे शैतान की ज़िल्लत क्या होगी
ये वेद उठा कुरआन उठा

1947 में तक़सीम-ए-हिंद फ़िरक़ापरस्ती का ही नतीजा था जिसमें लाखों लोग बेघर हुए तो लाखों अमनपसंद लोगों का कत्ल कर दिया गया। 'धर्मपुत्र' (1961) फिल्म में सांप्रदायिकता की हैवानियत का इज़हार हुआ है—

किस काम के हैं ये दीन धर्म जो शर्म का दामन चाक करें
किस तरह के हैं ये देश भगत जो बसते घरों को ख़ाक करें
ये रूहें कैसी रूहें हैं जो धरती को नापाक करें
ये किसका लहू है कौन मरा? ऐ रहबर! मुल्को-क़ौम बता?

सच्चा मज़हब इंसानों को आपस में जोड़ता है, उनमें सहिष्णुता की भावना का विकास करता है लेकिन कुछ असामाजिक तत्व धर्म की ग़लत व्याख्या करके लोगों के दिलों में ज़हर घोलते हैं। फिल्म 'दीदी' (1959) के गीत में यही सत्य उद्घाटित हुआ है—

'इंसानों का यह बंटवारा वहशत और जहालत है
जो नफ़रत की शिक्षा दे वह धर्म नहीं लानत है'

तारीख़ गवाह है कि मज़हब के ठेकेदारों ने इंसानियत को फलने-फूलने नहीं दिया है। मज़हब की हुकूमत ने धर्मनिरपेक्षता व मानवता का परचम लहराने वालों को सूली पर चढ़ाया है—

तेरे धरमों ने ज़ातों की तक़सीम की
तेरी रस्मों ने नफ़रत की तालीम दी
वहशतों का चलन तुझमें जारी रहा[7]

धर्म के नाम पर ग़रीबों का शोषण होता रहा है। यह हकीकत फिल्म 'गर्लफ्रैंड' (1960) के गीत में प्रकट की गई है—

निर्धन को दिया परलोक का सुख अपने लिए जग का राज़ रखा

पंडित और मुल्ला इनके लिए मज़हब के सहीफ़े लाते रहे

समाज की सत्ता और धर्म को अमीर अपने अनुसार चलाते हैं। धर्म और सत्ता की आड़ में वे मज़लूमों का खून चूसते हैं। साहिर ने 'नया रास्ता' (1970) फिल्म के माध्यम से अमीरों की हृदयहीनता पर प्रकाश डाला है–

रीत और रिवाज सब तुम्हारे साथ, धर्म और समाज सब तुम्हारे साथ
अपने साथ क्या धूल और धुआं, आज चाहे तुम नोच लो जुबां

'चित्रलेखा' (1964) फिल्म के माध्यम से भी साहिर ने उन मतलबपरस्त लोगों की जमकर खिंचाई की जो अपने स्वार्थ के लिए धर्म का मायना बदल देते हैं। ऐसे बगुला भगत ग़लत परंपराओं पर धर्म का मुलम्मा चढ़ाकर अपने पक्ष में बात को मनवाते हैं–

ये पाप है क्या पुण्य है क्या, रीतों पर धरम की मुहरें हैं
हर युग में बदलते धर्मों को कैसे आदर्श बनाओगे

जातिप्रथा समाज के लिए अभिशाप है क्योंकि यह ऊंच-नीच की भावना को जन्म देती है। इस व्यवस्था के आधार पर व्यक्ति की प्रतिभा का आधार जन्म को माना जाता है, इस कारण निम्नजाति के व्यक्तियों का जीवन नरक बन जाता है। साहिर ने 'दीदी' (1959) फिल्म के गीत के द्वारा जातिप्रथा पर करारा व्यंग्य किया है–

कुछ इंसान ब्रह्मन क्यों हैं? कुछ इंसान हरिजन क्यों है
एक की इतनी इज्जत क्यों है एक की इतनी ज़िल्लत क्यों हैं'

हर फनकार की रचना में उसके आत्मकथात्मक तत्त्व होते हैं। साहिर के फिल्मी गीतों का अगर ग़ौर से अध्ययन किया जाए तो हमें ज्ञात होगा कि जिन परिस्थितियों में साहिर का तमाम जीवन गुज़रा, उन हालातों को साहिर ने गीतों में ढालकर अवाम को पेश किया। उन्होंने स्वयं कुबूल किया है–

दुनिया ने तजुर्बातो-हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है, वो लौटा रहा हूं मैं[3]

साहिर के बचपन के बारे में मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने लिखा है, "तब लुधियाना छोटा सा शहर था। आबादी के लिहाज से सिखों और हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों की तादाद बहुत कम थी। साहिर के घर और आसपास के मिलने-जुलने वालों की जबान पंजाबी थी, जो उस समय में फारसी लिपि में लिखी जाती थी और पंजाबी और उर्दू अदब की रंगत में वे दिनोंदिन डूबते जा रहे थे। उनके दोस्तों में मुसलमान नौजवान तो इक्के-दुक्के ही थे, ज़्यादातर सिख और हिंदू थे, तब लुधियाना में फ़िराक़परस्ती का नामोनिशां नहीं था। सेक्यूलर माहौल में ही साहिर के ख्यालों और जज्बात की आत्मीय दुनिया निर्मित हुई।"[9] बचपन में मिले साझा-संस्कृति के माहौल ने साहिर के गीतों में धर्मनिरपेक्षता की बुनियाद रखी। 'मेहमान' (1974) फिल्म के गीत में यही फ़लसफ़ा प्रकट हुआ है–

राम रहीम कृष्ण करीम यसु मसीह और इब्राहिम
सबकी एक ही तालीम, सबकी एक ही तालीम,
काशी काबे मथुरा मक्के एक ही नूर समाया
किसी ने सजदा किया उसे, और किसी ने शीष नवाया
कोने-कोने भटक चुके तब हमने भेद ये पाया, सबकी है एक ही तालीम

साहिर ने महसूस किया कि सभी धर्मग्रंथों का सार मानवता की भलाई है, लेकिन कुछ फ़िरक़ापरस्त लोग ही मजहब के नाम पर दंगा करवाते हैं। 'दीदी' (1959) फिल्म में सर्व धर्मों का सार प्रकट हुआ है–

वही है जब कुर्रान का कहना जो है वेद पुरान का कहना
फिर यह शोर-शराबा क्यों है इतना खून-खराबा क्यों है

सभी धर्म मनुष्य को अच्छे कर्म करने की शिक्षा देते हैं। ईश्वर ने सभी इंसानों को समान बनाया है, जाति-पाति तो मानव निर्मित है। सबका परमात्मा भी एक है। 'हम दोनों' (1961) फिल्म के गीत के माध्यम से साहिर ने कहा है कि हम उस सर्वशक्तिमान को किसी भी नाम से पुकार सकते हैं–

ईश्वर अल्ला तेरो नाम सबको सन्मति दे भगवान
ज़ातों नस्लों के बंटवारे, झूठ कहाए तेरे द्वारे
इस धरती पर बसने वाले, सब हैं तेरी गोद के पाले
कोई नीच न कोई महान, तेरे लिए सब एक समान

ज़ात-पात और संप्रदाय के भेदभाव ने राष्ट्रीय एकता को खंडित किया है। इसलिए हमें सावधान रहना चाहिए। 'नया रास्ता' (1970) फिल्म के माध्यम से कहा गया है कि हमें अपने इतिहास से सबक लेना चाहिए–

तू द्राविड़ है या आर्य नस्ल है, जो भी है इसी ख़ाक की फ़सल है
रंग और नस्ल के दायरे से निकल, गिर चुका है बहुत देर अब तो संभल

इंसान की उत्कृष्टता का पैमाना उसका जन्म नहीं बल्कि कर्म है। अच्छा मनुष्य वही है जो अपने कर्मों द्वारा सबकी भलाई चाहता है–

जन्म का कोई मोल नहीं
जन्म मनुष्य का तौल नहीं
कर्म से है सबकी पहचान'[10]

'खून अपना हो या पराया हो, नस्ले-आदम का खून है आख़िर'[11] कहने वाले साहिर लुधियानवी 'हम तेरे आशिक हैं'(1979) फिल्म के गीत द्वारा मानवता के प्रबल समर्थक होने की घोषणा करते हैं–

मानवता की जीत हुई, अन्याय के बंधन टूटे हैं
नवयुग की नवपीढ़ी के माथे से उजाले फूटे हैं
रंगो-नस्लों और ज़ातों के रिश्तों का कुछ मोल नहीं
प्यार का रिश्ता सच्चा रिश्ता, बाकी रिश्ते झूठे हैं

ताउम्र मानवता को धर्मनिरपेक्षता के अमृत से सींचने वाले साहिर लुधियानवी ने सभी मज़हबों के इंसानों को सहिष्णुता और सौहार्द के साथ जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया। उनको हमसे रुखसत हुए 35 वर्ष गुज़र गए हैं, लेकिन उनकी शायरी हमारी रूह को तस्कीन बख़्श रही है–

छोड़ के झूठी ज़ातें-पातें सब से सीखो अच्छी बातें
अपना किसी से बैर न समझो, जग में किसी को ग़ैर न समझो
आप पढ़ो औरों को पढ़ाओ घर-घर ज्ञान की जोत जलाओ।[12]

संदर्भ

1. फिल्म 'धूल का फूल' (1959)
2. पल दो पल का शायर हूं, अमर वर्मा, स्टार पब्लिकेशंस दिल्ली, संस्करण 2012, पृ. 34
3. जाग उठे ख्वाब कई, (सं.) मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, पेंगुईन बुक्स दिल्ली, संस्करण 2012, पृ. 7
4. जाग उठे ख्वाब कई, (सं.) मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, पेंगुईन बुक्स दिल्ली, संस्करण 2012 पृ.-XVIII
5. साहिर लुधियानवी, (सं.) प्रकाश पंडित, हिंद पॉकेट बुक्स दिल्ली, संस्करण 1981, पृ. 61
6. प्रगतिशील अलोचना एवं हिंदी कविता, डॉ. दोइड शेतु बाबू, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 197
7. फिल्म नया रास्ता (1970)
8. साहिर लुधियानवी, (सं.) प्रकाश पंडित, हिंद पॉकेट बुक्स दिल्ली, संस्करण 1981 पृ. 1
9. जाग उठे ख्वाब कई, (सं.) मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, पेंगुईन बुक्स दिल्ली, संस्करण 2012 पृ. XV
10. फिल्म हम दोनों (1961)
11. आओ कि कोई ख़्वाब बुनें, साहिर लुधियानवी, हिंदी बुक सेंटर दिल्ली, संस्करण 2007 पृ. 16
12. फिल्म 'बहू बेटी' (1965) ❑

संपर्क : नया खटीकान, वार्ड 9, महेंद्रगढ़-123029 (हरियाणा)

मैं यहां तू वहां , ज़िंदगी है कहां!

प्रदीप सरदाना

आदेश श्रीवास्तव के निधन से समूचा फिल्म जगत ही नहीं देश-दुनिया में बसे उनके असंख्य मित्र और प्रशंसक भी दुखी हैं। हालांकि आदेश पिछले काफ़ी समय से कैंसर जैसी उस खतरनाक बीमारी से जूझ रहे थे जिससे वह कभी उबरते तो कभी फिर से उसकी गिरफ़्त में चले जाते। इसलिए क्रूर काल का संकट उनके इर्द-गिर्द मंडराता दिखाई देने लगा था लेकिन करीब दो साल पहले इस भयंकर रोग से उन्होंने जिस तरह साहस से मुकाबला कर इस पर विजय पाई थी उसे देख एक उम्मीद अब भी बंध रही थी कि शायद इस बार भी वह इस रोग से मुक्त हो जाएंगे लेकिन उस रोग ने उन्हें अपना ग्रास बना उन्हें जीवन से ही मुक्त कर दिया।

4 सितंबर 2015 को मुंबई के कोकिलाबेन अस्पताल में अचेत अवस्था में ही आदेश ने अपनी ज़िंदगी के 50 बरस पूरे कर उस रात 12 बजे 5 सितंबर होने पर अपनी जिंदगी के अगले वर्ष में प्रवेश किया था लेकिन उनकी जिंदगी अभी आधा घंटा ही आगे बढ़ी थी कि तभी आदेश की ज़िंदगी के पास मौत का आदेश आ गया। सभी अवाक् रह गए, सभी उम्मीदें, सभी प्रयास धरे के धरे रह गए। कुछ ही देर बाद जब यह समाचार मुझे मिला तो मन दुःख से भर गया। मुझे तभी कविवर हरिवंशराय बच्चन की एक कविता की पंक्ति याद हो आईं—"क्या हवाएं थीं कि उजड़ा प्यार का वो आशियाना, कुछ न आया काम तेरा, शोर करना, गुल मचाना।"

यह संयोग ही है कि हरिवंशराय बच्चन के पुत्र तथा सुप्रसिद्ध अभिनेता अमिताभ बच्चन और आदेश श्रीवास्तव का पिछले कुछ बरसों में भरपूर साथ रहा। अमिताभ बच्चन सदा आदेश की प्रतिभा की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते रहे। यहां तक कि उन्हें अपने छोटा भाई समान भी कहते रहे। अमिताभ बच्चन, आदेश श्रीवास्तव के काम से इतने प्रभावित थे कि आदेश उनके सामने जिस गीत या जिस प्रोजेक्ट का प्रस्ताव रखते थे अमिताभ उसके लिए हां कर देते थे। शायद यही कारण है कि अमिताभ ने सबसे ज्यादा गीत आदेश के संगीत निर्देशन में ही गाये। कुछ फिल्में तो ऐसी भी रहीं जिनमें संगीतकार कोई और थे लेकिन उस फिल्म में भी अमिताभ पर फिल्मांकित कुछ गीतों पर आदेश ने ही संगीत दिया।

अमिताभ बच्चन जैसे बड़े सितारे की प्रशंसा, सराहना और साथ से निश्चय ही आदेश का कद ऊंचा हुआ। दरअसल अमिताभ आदेश की कद्र उनकी प्रतिभा के साथ-साथ एक और कारण से भी करते रहे और वह कारण था आदेश की संघर्ष यात्रा। मध्यप्रदेश के जबलपुर में जन्मे आदेश करीब 16-17 बरस की उम्र में ही ड्रम बजाना सीखकर मुंबई आ गए थे। आदेश की आंखों में तब कई सपने थे, कुछ कर गुज़रने की चाह से बढ़कर उनमें ग़ज़ब का आत्मविश्वास और अपनी प्रतिभा पर पूरा भरोसा था। हालांकि पूरे मुंबई शहर में उनका कोई भी अपना ऐसा नहीं था जो उन्हें काम दिला सके या उन्हें मार्गदर्शन दे सके। आदेश खुद ही एक संगीतकार से दूसरे संगीतकार, एक स्टूडियो से दूसरे स्टूडियो के चक्कर लगाते रहे लेकिन सभी के साथ अपने साजिन्दे थे, इससे सभी जगह उन्हें 'नो वेकेंसी' का बोर्ड सा दिखता। यह देख आदेश ने ख़ाली बैठे रहने की जगह तब के कुछ जाने माने गायक-गायिकाओं के साथ उनके संगीत समूह में स्टेज शो में ड्रम बजाने का काम शुरू कर दिया। साथ ही धीरे-धीरे वह मंच पर खुद गाने भी लगे और कुछ अन्य वाद्ययंत्र भी सीख गए।

उसी दौरान संगीतकार लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल का ड्रमर कहीं चला गया तो उन्हें एक ड्रमर की जरूरत आन पड़ी तो आदेश को उनके साथ काम मिल गया। बस वहीं से शुरू हुई आदेश की नई सफलता के साथ एक नई संघर्ष यात्रा। यह बात है सन् 1982 की तब से करीब 10 बरस तक आदेश का यह संघर्ष चलता रहा। उसके बाद



आदेश को अपने मित्र जैकी श्रॉफ की सिफारिश से बतौर संगीतकार एक फिल्म मिली जिसका नाम था 'कन्यादान'। अब तक आदेश के कई बड़े गायक-गायिकाओं से अच्छे संपर्क हो गए थे और अपने मधुर व्यवहार और प्रतिभा के कारण वह बहुतों के दिल में अपनी एक खास जगह बना चुके थे। इनमें एक नाम लता मंगेशकर का भी था। अपनी पहली फिल्म के लिए आदेश ने लता जी को गीत गाने को कहा तो वह तैयार हो गईं। इससे अपने संगीत-निर्देशन में उन्हें अपना पहला गीत लता मंगेशकर के साथ रिकॉर्ड कराने का सौभाग्य मिल गया, जिसमें लता के साथ एक और दिलकश गायक उदित नारायण भी उनके साथ थे। वह गीत था—'ओह सजना दिलबर लेकिन आदेश के सौभाग्य के साथ एक दुर्भाग्य भी साथ आ गया। वह यह कि यह गीत रेडियो पर तो कुछ दिन अच्छा चला लेकिन यह फिल्म रिलीज़ नहीं हुई। ऐसा ही कुछ हाल आदेश की एक और फिल्म 'जाने तमन्ना' का भी हुआ। यह देख आदेश को दुःख होना स्वाभाविक था। ऐसे में उनके दुःख को खुशी में बदला सन् 1994 में आई एक फिल्म 'आओ प्यार करें' ने। निर्माता के सी बोकाड़िया की शिल्पा शेट्टी और सैफ अली खान जैसे कलाकारों से सजी यह फिल्म रिलीज़ भी हुई और सफल भी। साथ ही इसका संगीत भी लोकप्रिय हो गया। खासतौर से एक गीत—'हाथों में आ गया जो कल रुमाल आपका'। इस गीत की धूम सभी जगह हो गई और आदेश की गाड़ी बतौर संगीत-निर्देशक चल पड़ी।

इसके बाद तो एक-एक करके आदेश श्रीवास्तव कई हिट गीत और हिट धुनें देते रहे। 'आओ प्यार करें' के बाद सन् 1996 में आई फिल्म 'शस्त्र' के गीतों ने तो आदेश श्रीवास्तव को हिंदी सिनेमा का चमकता सितारा बना दिया। इस फिल्म का 'क्या अदा क्या जलवे तेरे पारो' गीत तो लोकप्रिय हुआ ही साथ ही इसी फिल्म से आदेश ने आज की लोकप्रिय गायिका सुनिधि चौहान को भी फिल्मों में गाने का पहला मेजर ब्रेक दिया, गीत 'लड़की दीवानी देखो, लड़का दीवाना' से।

हालांकि यह वह दौर था जब बॉलीवुड में उन दिनों एक ओर नदीम-श्रवण की जोड़ी धूम मचा रही थी तो दूसरी ओर आदेश के अपने ही करीबी रिश्तेदार बन चुके जतिन-ललित की धुनों का जादू लोगों के सिर चढ़कर बोल रहा था। साथ ही अनु मलिक जैसे बेहतरीन संगीतकार भी तब हिट पर हिट दे रहे थे लेकिन आदेश श्रीवास्तव ने इनके साथ तब के कुछ अन्य संगीतकारों का मुकाबला कर अपने लिए शानदार जगह बनाने में कामयाबी हासिल कर ली थी। वह कहीं सोलो संगीतकार के रूप में काम कर रहे थे तो कहीं किसी के साथ मिलकर। वह कहीं फिल्मों में बैक ग्राउंड स्कोर भी दे रहे थे तो देश-विदेश में स्टेज शो भी कर रहे थे। इन सबके साथ वह फिल्मों और मंच पर अपनी ही बनाईं धुनों पर अपनी ही आवाज़ में गीत भी गाते रहे।

एक संगीतकार के रूप में आदेश ने करीब 100 फिल्मों में संगीत दिया जिनमें 'आओ प्यार करें' और 'शस्त्र' के अलावा 'तरकीब', 'लाल बादशाह', 'सौदा', 'वीरगति', 'कुंवारा', 'जोरू का गुलाम', 'शिकारी', 'बस इतना सा ख्वाब है', 'खुदा

कसम', 'देव', 'दहक', 'मेजर साहब', 'कभी खुशी कभी ग़म', 'आंखें', 'बागबान', 'चलते-चलते', 'बाबुल' और 'राजनीति' जैसी कुछ फिल्मों में उनके संगीत में रचे'-बसे गीत तो काफी सफल और लोकप्रिय रहे। इन फिल्मों के लोकप्रिय गीतों में—होली खेले रघुबीरा, चली चली फिर चली चली, कहता है बाबुल, बेबसी दर्द का आलम, गुमशुदा, लाई वी ना गई, सावन बरसे तरसे दिल आज, मेरी मखना, कहता है बाबुल, ओ धरती तरसे अम्बर तरसे और अमिताभ बच्चन के स्वर में दिल की गहराइयों में उतरने वाला गीत—"मैं यहां तू वहां, ज़िंदगी है कहां, तू ही तू है सनम, देखता हूं जहां" जैसे गीत भी शामिल हैं।

आदेश श्रीवास्तव की रगों में संगीत इस कद्र बसा था कि वह खुद जहां ड्रम सहित कई साज बजा लेते थे, धुनें तो बनाते ही थे, साथ ही खुद गाते भी कमाल का थे। शुरू में उन्होंने अपनी कुछ फिल्मों में अन्य प्रमुख गायक-गायिकाओं के साथ कुछ पंक्तियां गाईं पर बाद में उन्होंने मुख्य गायक के रूप में कई गीत गाये और वे लोकप्रिय होने के साथ यह भी बता गए कि वह एक ऊंचे दर्जे के गायक हैं।

आदेश श्रीवास्तव एक ऐसे संगीतकार रहे जिन्होंने चाहे सुनिधि चौहान जैसी गायिकाओं को पहला ब्रेक दिया और सोनू निगम को भी उनके संघर्ष के शुरुआती दौर में ही कई अच्छे गीत गाने का मौका। दिया। अमिताभ बच्चन तो कई बार कहते रहे कि उन्होंने अपने अधिकांश बेहतर गीत आदेश के साथ ही किये। फिर भी आदेश सिर्फ़ कुछ गायक-गायिकाओं के साथ ही बंधकर नहीं रहे। अपने आस-पास सात-आठ गायक-गायिकाओं की ऐसी लॉबी नहीं बनाई जो बार बार सिर्फ उन्हीं से गवाए। आदेश सभी गायक गायिकाओं के साथ काम करना चाहते थे। हालांकि यह संभव नहीं हो सका फिर भी उन्होंने अनेक सिंगर्स को अपनी फिल्मों में गवाया। इनमें लता मंगेशकर, अमिताभ बच्चन, सोनू निगम और सुनिधि चौहान के साथ श्रेया घोषाल, सुदेश भोंसले, जगजीत सिंह, अलका याज्ञनिक, कविता कृष्णामूर्ति, ऋचा शर्मा, कुमार शानू, साधना सरगम, उदित नारायण, अनुराधा पौडवाल, सपना अवस्थी, विनोद राठौर, अभिजीत, कैलाश खेर, हेमा सरदेसाई, कुनाल गांजावाला, जसपिंदर नरूला, पूर्णिमा के साथ विजेयता पंडित जैसे और भी कई नाम शामिल हैं। यहां तक उन्होंने शकीरा, सौल्जा बॉयज और नोरा जोंस सरीखे अंतर्राष्ट्रीय कलाकारों के साथ भी काम किया।

आदेश श्रीवास्तव की ज़िंदगी खुशहाल चल रही थी। अपने काम और अपने परिवार से वह बहुत खुश थे। एक दिन वह परिवार के साथ अपने लोनावाला फार्म हाउस पर गए हुए थे। उन दिनों उन्हें कुछ कम दिखाई देने लगा था। एक दिन एक पुरस्कार समारोह में उन्हें कमज़ोर नज़र का अहसास हुआ, चश्मे के नंबर का मामला मान उन्होंने इस ओर ख़ास ध्यान नहीं दिया। जिस दिन वह फार्म हाउस पर थे उस दिन उन्होंने अपनी खिड़की से बाहर झांका तो उन्हें वहां कुछ दूर का वह पेड़ दिखाई नहीं दिया जो वह वहां अक्सर निहारते थे। तब उन्होंने अपने बेटे से पूछा कि आज वहां सामने पेड़ दिखाई नहीं दे रहा, लगता है वह कट गया। पर उनके बेटे ने चौंकते हुए कहा—'पापा आपको क्या हो गया, पेड़ तो वहीं है'। यह सुन आदेश चौंके और गंभीर होते हुए बोले—'अरे कमाल है पेड़ मुझे दिखाई नहीं दे रहा, लगता है कुछ ज्यादा गड़बड़ है। यह देख पूरा परिवार तुरंत मुंबई आ गया। आदेश ने वहां अपना पूरा चेकअप कराया तो सभी सन्न रह गए उन्हें कैंसर था। ज़ाहिर है सभी का विचलित होना स्वाभाविक था। पर आदेश ने कुछ दिनों में ही संभलते हुए अपना बेहतर से बेहतर इलाज कराने और हिम्मत न हारकर हिम्मत से इस महामारी से लड़ने का फ़ैसला लिया। इस दौरान उनका काफी काम-काज छूट गया और वह अपने इलाज के लिए देश-विदेश जाते रहे। करीब दो साल बाद जब वह एक समारोह में पहले की तरह हंसते-मुस्कुराते सभी के सामने मंच पर आये तो सभी हैरान रह गए। तब आदेश ने कहा कि वह कैंसर से मुक्त होकर पूरी तरह ठीक हो गए हैं।

यूं आदेश को इस दौरान इस बात का मलाल रहा कि उनके इस मुश्किल दौर में किसी ने उनकी खैर-ख़बर नहीं ली। जो दोस्त और करीबी होने का दावा करते थे वह भी दूर-दूर रहे लेकिन आदेश धीरे-धीरे अपने सब ग़म भूलते हुए फिर से अपने काम में जुट गए। अभी चंद महीने पहले मेरी मुंबई यात्रा के दौरान आदेश से दो दिन लगातार सुबह के नाश्ते के दौरान मुलाकात हुई। मैं मुंबई के जिस 'सन एंड सैंड' होटल में ठहरा था, उसी होटल में आदेश भी अपने किसी प्रोजेक्ट पर काम करने के लिए कमरा लेकर रुके हुए थे। सुबह वह ट्रैक सूट पहनकर समुद्र किनारे टहलने के बाद नाश्ते के लिए वहां आते थे और फिर अपने काम में जुट जाते। मैंने तब उनकी तबियत को लेकर खास तौर से पूछा तो उन्होंने उत्साहित होकर जवाब दिया—"हां, हां तबियत तो बिलकुल ठीक है। अब अपने कुछ नए प्रोजेक्ट पर काम कर रहा हूं"। उनकी यह बात और उनका उत्साह मुझे अच्छा लगा लेकिन पता नहीं था कि यह दिया बुझने से पहले वाली तेज़ चमक है। करीब तीन महीने पहले उन्हें पता लगा कि वह फिर कैंसर की चपेट में आ गए हैं। उन्हें इस बात का देर से पता लगा पर वह बिना देर किए अपना इलाज कराने अमरीका चले गए। वहां से करीब दो महीने पहले लौटे तो उनकी नाक में खून आ गया। तब उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया गया। जहां लगभग डेढ़ महीना इस रोग से लड़ाई लड़ने के बाद उन्हें हार मानने को विवश होना पड़ा।

इस बार की बीमारी के दौरान उन्हें और उनके परिवार को इस बात का संतोष जरूर रहा कि पिछली बार जहां किसी ने उनका हाल नहीं पूछा था वहां इस बार उनका हाल पूछने वालों और उनके ठीक होने की दुआएं करने वालों की लंबी कतार थी।

वैसे आदेश को सफलता तो काफी मिली लेकिन उन जैसी प्रतिभा के लिए निश्चय ही यह पर्याप्त नहीं थी। वह हमेशा कहते थे कि मेरा सर्वश्रेष्ठ अभी आना बाकी है, मैं अभी बहुत काम करना चाहता हूं। वह अपने बड़े बेटे अवितेश को अभिनेता बनाना चाहते थे और छोटे बेटे अविनेश को संगीतकार बनाने का सपना देखते थे। इस बात के भी दो कारण थे एक तो यह कि वह एक बेटे को उनकी मां विजयेता की तरह अभिनय की दुनिया में लाना चाहते थे और दूसरे को अपनी तरह संगीतकार। यूं जहां विजयेता एक अभिनेत्री होने के साथ गायिका भी थीं और उनका एक म्यूजिक एल्बम भी कुछ बरस पहले माधुरी दीक्षित ने रिलीज़ किया था वहां आदेश अभिनय का शौक भी रखते थे। आदेश ने दो फिल्मों में छोटी भूमिकाएं भी की थीं लेकिन दोनों बेटे अभी छोटे हैं इसलिए अपने जीते जी वह अपना यह सपना पूरा नहीं कर सके और न ही अपना सर्वश्रेष्ठ इस दुनिया को दे सके।

सन् 1990 में विजयेता पंडित से शादी के बाद तो आदेश की जिंदगी ही बदल गई। विजयेता 'लव स्टोरी' और 'मोहब्बतें' जैसी कुछ हिट फिल्मों की नायिका होने के साथ एक जाने-माने संगीत परिवार से हैं। विजयेता के पिता पंडित प्रताप नारायण और उनके भाई पंडित जसराज संगीत की दुनिया के मशहूर नाम हैं। ऐसे ही विजयेता के भाई यानी आदेश के साले जतिन-ललित अपनी जोड़ी के रूप में फिल्म लोक में बीसियों सुपर हिट फिल्में संगीतकार के रूप में दे चुके हैं। उनकी बहन सुलक्षणा पंडित ने भी कभी अपनी सशक्त पहचान बनाई थी। इससे आदेश विजयेता से शादी के बाद संगीत के एक विख्यात परिवार का हिस्सा बन गए थे,जो उन्हें बहुत सुकून देता था।

जब आदेश श्रीवास्तव मुंबई आए तब उनका कोई दोस्त कोई रिश्तेदार इस माया नगरी में नहीं था लेकिन जब उन्होंने इस दुनिया को अलविद' कहा तब उनके साथ आधे से अधिक फिल्मोद्योग खड़ा था। आदेश जितने अच्छे गायक और संगीतकार रहे वह उतने ही अच्छे इंसान भी थे। अहंकार उनसे अक्सर दूर ही रहा। हमेशा सादगी और खूबसूरत मुस्कान उनके साथ रहती थी लेकिन अब उनका संगीत ही हमारे बीच है जो उनकी संगीत कला, उनकी स्मृतियों को कभी मरने नहीं देगा। ❑

संपर्क : ई-22, हरी विला, विकास मार्ग, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092

संगीत परिक्रमा

त्रिवेणी : शब्द, स्वर, भाव की

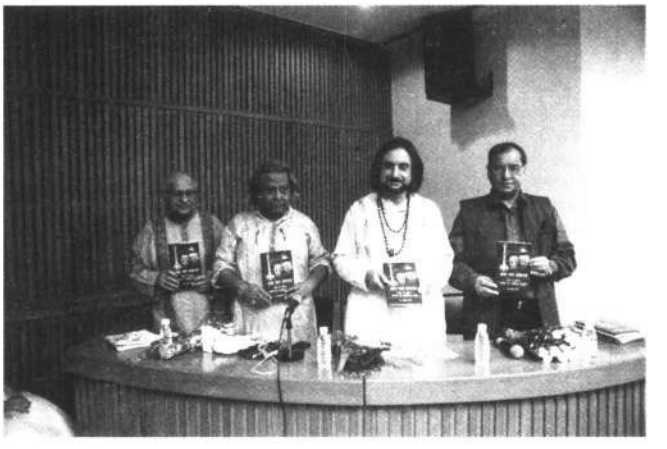
पंडित विजयशंकर मिश्र

संगीता के विकास में ग़ैर-व्यावसायिक संगीत सेवियों की भी बड़ी भूमिका रही है। पिछले दिनों बिहार के सुदूर फारबिस गंज में बसे प्रतिष्ठित संगीत उन्नायक शंभूनाथ मिश्र की पुस्तक 'शब्द-स्वर समागम' के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है। शंभूनाथ जी ने इस पुस्तक में हरिवंश राय बच्चन, रमानाथ अवस्थी, बालस्वरूप राही, रामानंद दोषी, क्षेमचंद्र सुमन, महादेवी वर्मा, तारा पांडेय, मंजुल मयंक, शांति स्वरूप कुसुम, महेंद्र भटनागर, गोपाल सिंह नेपाली, रामावतार त्यागी, गोपाल कृष्ण कौल, नीरज, सोहनलाल द्विवेदी, राम कुमार वर्मा, इंदुकांत शुक्ला, मैथिलीशरण गुप्त, निरंकार देव सेवक एवं उपेंद्रनाथ अश्क जैसे प्रतिष्ठित कवियों का संगीत संयोजन किया है। इस पुस्तक की हर रचना अगर शब्द की दृष्टि से उच्चकोटि की है तो स्वर की दृष्टि से भी श्रवणीय और मर्मस्पर्शी है। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि मिश्र जी ने अपने संगीत के माध्यम से जड़ को चेतन और शव को शिव बनाने का काम किया है।

दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर एनेक्सी में आयोजित एक भव्य समारोह में इस पुस्तक का लोकार्पण करने के लिए एक ओर अगर विश्व विख्यात संतूर वादक पद्मश्री पं. भजन सोपोरी उपस्थित थे तो दूसरी ओर अंतरराष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार पं. सुरेश नीरव। दोनों ने इस पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की। लेखक-संगीतकार शंभूनाथ मिश्र के साथ एक संवाद भी हुआ इस पुस्तक पर। इस पुस्तक के कुछ गीतों का गायन संजय कुमार और स्नेहा कुमारी ने भावपूर्ण अंदाज़ में किया। तबला संगति मुकेश कुमार झा ने की। फारबिस गंज जैसे पिछड़े क्षेत्र से आए इन युवा प्रतिभाओं ने दिल्लीवासियों का दिल जीत लिया।

● श्रुति फाउंडेशन की ओर से अमलताश सभागार में आयोजित संगीत संध्या में बनारस घराने के पं. भोलानाथ मिश्र के गायन ने प्रभावित किया। भोलानाथ मिश्र ने अपने कार्यक्रम में बनारस घराने की तमाम खूबियों को रेखांकित किया। लय और ताल के धागे में बांधकर शब्द और स्वर का अच्छा ताना-बाना बुनते हैं वह। तबले पर मुकेश कुमार झा ने इनकी अच्छी, अनुकूल और सूझबूझ युक्त संगति की। हॉरमोनियम पर ज़ाकिर धौलपुरी की उपस्थिति भी उल्लेखनीय रही।

● त्याग (द योगा एंड आर्ट ग्रुप) की ओर से त्रिवेणी चैंबर थियेटर में संपन्न दो-दिवसीय संगीत संध्या में पं. गोविंद चक्रवर्ती का आकर्षक तबला वादन संपन्न हुआ। उठान के बाद ठेके की बढ़त करते हुए उन्होंने विभिन्न लयकारियों का प्रयोग किया तो बांट में विभिन्न जातियों का। गतकायदा और अंगुश्ताना सहित उनकी दूसरी रचनाएं भी काफी सराही गईं। कैलाश वर्मा की सुरीली बांसुरी ने भी लोगों का मन मोहा। बांसुरी जैसे कठिन और श्रमसाध्य साज़ पर उनका नियंत्रण प्रशंसनीय है। निशा



शंभूनाथ मिश्र की पुस्तक का लोकार्पण करते पं. भजन सोपोरी और सुरेश नीरव

महाजन ने अपने एकल नृत्य में कथक के प्राचीन स्वरूप की झलक पेश की। शोर-शराबे से दूर शांत और सौम्य नृत्य था उनका। धतक थुंगा के माध्यम से ब्रह्मा, विष्णु, महेश और राधाकृष्ण के छेड़छाड़ का प्रसंग लोगों को पसंद आया। सूरदास की अल्प प्रचलित रचना—प्रीत करी काहू सुख नाही—पर उन्होंने पुराने अंदाज़ में बैठकर आकर्षक भावाभिनय किया। इस दो-दिवसीय समारोह में कथक की कुछ सामूहिक प्रस्तुतियां भी हुईं। शालिनी सिंह, शशि सहगल, हरप्रीत कौर जस, एमेली मुंशी चंद्रा, सोहिनी कबीर, सना शर्मा और मोहन बहादुर ने 'आओ री सखि झोंका दीजे, झुकी आई रे बदरिया सावन की, उमड़-घुमड़ घन गरजत आए' और 'सावन घन गरजे रुमझुम' जैसी रचनाओं पर अच्छा नृत्य किया।

● तराना आर्ट एंड म्यूजिक की ओर से लोक कला मंच में आयोजित संगीत त्रिवेणी कार्यक्रम में उस्ताद हसमत अली खां (तबला) और पं. मोहिंदर सरीन (संगीत निर्देशक) को उनके जीवन समग्र योगदान के लिए सम्मानित किया गया। इस अवसर पर पं. सलील भट्ट ने सात्विक वीणा पर राग पूरिया धनाश्री की चमत्कारिक प्रस्तुति की। पं. दीपक महाराज और उनकी सुपुत्री रागिनी महाराज का पंचम सवारी और तीनताल में प्रस्तुत कथक नृत्य नयनाभिराम था। नृत्य के तकनीकी पक्ष और अभिनय दोनों से प्रभावित किया रागिनी ने। तीनों ही कलाकारों के साथ प्रांशु चतुरलाल ने सूझबूझ युक्त अनुकूल संगति की। इस शाम सलील भट्ट, दीपक महाराज, रागिनी महाराज और प्रांशु चतुरलाल को भी उनके सांगीतिक योगदानों के लिए सम्मानित किया गया। ❑

संपर्क : 'शंकरा', 705 डी/21 सी, वार्ड नं. 3, महरौली, नई दिल्ली-110030

समीक्षा

भोजपुरी काव्य का अनुशीलन

अशोक प्रियंवद

हिंदी और भोजपुरी के सुख्यात कवि-समीक्षक सुनील कुमार पाठक की आलोचना-कृति 'छवि और छाप : राष्ट्रीयता के आलोक में भोजपुरी कविता का पाठ' दरअसल एक ऐसी पुस्तक है, जो राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद की सैद्धांतिकी तो प्रस्तुत करती ही है, साथ ही लोकभाषा भोजपुरी की कविताओं और लोकगीतों में व्याप्त राष्ट्रीयता की जनपदीय सुगंध को भी पूरी रंगमयता और रुचिरता के साथ प्रस्तुत करती है।

इस पुस्तक के प्रारंभिक अध्याय में राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद पर बड़े सूक्ष्म और तात्त्विक दृष्टि से विचार किया गया है। इस पुस्तक में लोकभाषा भोजपुरी की कविताओं का अध्ययन हिंदी भाषा में प्रस्तुत किया गया है। परिणामतः यह हिंदी के बृहत्तर पाठक-समुदाय तक अपनी सहज पहुंच बना लेने में सक्षम है। हिंदी में इस पुस्तक के लिखे जाने का एक उद्देश्य यह भी प्रतीत होता है कि यह तथ्य बिल्कुल प्रच्छन्न रूप से प्रकट हो जाए कि हिंदी के प्रति भोजपुरी-जैसी लोकभाषाओं का कोई द्वेष-भाव नहीं है। वस्तुतः यह सच्चाई है कि हिंदी की सारी बोलियां उसी का अभिन्न अंग हैं और इन बोलियों का साहित्य राष्ट्रभाषा हिंदी के साहित्य को समृद्ध ही करता है।

श्री पाठक की इस कृति का छठा अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में लेखक ने विभिन्न भारतीय भाषाओं, यथा उर्दू, बांग्ला, मराठी, तमिल, गुजराती, कन्नड़, सिंधी, उड़िया तथा अवधी, ब्रजी, मैथिली, संथाली, मगही, गढ़वाली, हरियाणवी, राजस्थानी जैसी लोकभाषाओं की कविताओं एवं लोकगीतों में भी राष्ट्रीयता की भावना का सम्यक् विश्लेषण करते हुए भोजपुरी कविताओं और लोकगीतों के साथ उनका तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। यह एक अनूठा प्रयास है।

इस कृति में सन् 1911 में प्रकाशित अत्यंत लोकप्रिय भोजपुरी देशवंदना 'सुंदर सुभूमि भइया भारत के देसवा से' के रचयिता रघुवीरनारायण से लेकर प्रसिद्धनारायण सिंह, हरिहर प्रसाद सिंह, भिखारी ठाकुर, चंचरीक, मनोरंजन प्रसाद सिंह, हरेंद्रदेव नारायण, हीरा डोम, चंद्रशेखर मिश्र, गोरख पांडेय, मास्टर अज़ीज़ जैसे दर्जनों लोकप्रिय भोजपुरी कवियों की राष्ट्रीय कविताओं के भाव-सौंदर्य एवं अभिव्यक्ति-कौशल को विवेचित किया गया है। स्वतंत्रता-आंदोलन में भोजपुरी क्षेत्र के योगदान को रेखांकित करते हुए स्वातंत्र्योत्तर भारत के नवनिर्माण में इस क्षेत्र की महती भूमिका को भी इस कृति में रूपायित किया गया है। भोजपुरी क्षेत्र की रमणीय छवि और छटा की पूरी झलक इस कृति में उपलब्ध है। इस पुस्तक की एक अन्य विशेषता यह भी है कि यहां राष्ट्रीयता को सिर्फ़ देशभक्ति और राष्ट्रवंदना तक सीमित नहीं रखा गया है। लेखक के विचार यहां पूरी तरह स्पष्ट हैं—"आज राष्ट्रीयता केवल देशभक्ति और देशानुराग तक ही सीमित नहीं है, उसके अंतर्गत हम पूंजीवाद के प्रकोपों, दलित-समस्याओं, नारी-मुक्ति आदि तमाम चिंतन-आयामों पर विचार कर सकते हैं।" (पृ. 233) और यही कारण है कि इस कृति में श्री पाठक ने भोजपुरी कविता के जातीय, सामाजिक और आर्थिक सरोकारों की भी गहनता से पड़ताल की है। निश्चय ही, भोजपुरी काव्य का राष्ट्रीयता के संदर्भ में यह अनुशीलन अत्यंत व्यापक, समीचीन और सारगर्भित है।

छवि और छाप : राष्ट्रीयता के आलोक में भोजपुरी कविता का पाठ

सुनील कुमार पाठक
प्रकाशक : ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली-110002,
पृ. 263, मूल्य : 350 रुपये

संपर्क : हिंदी विभाग, जेड. ए. इस्लामिया कॉलेज, सीवान (बिहार)

दृढ़विश्वास और इच्छाशक्ति पर भरोसा

सुनील विक्रम सिंह

हम जीवन-रस और प्रकृति से कटते जा रहे हैं। जीवन यांत्रिक होता जा रहा है। ऐसी अमानवीय परिस्थिति में रतीनाथ योगेश्वर की कविताओं को पढ़ते हुए खुशगवार हवा के झोंके के सुखद स्पर्श का अहसास होता है। 'थैंक्यू मरजीना' युवा कवि रतीनाथ योगेश्वर का पहला कविता-संग्रह है। 'थैंक्यू मरजीना' का मूल्यांकन करते हुए प्रसिद्ध युवा आलोचक श्रीरंग ने लिखा है—'कविता में कविता की वापसी का सुखद संकेत देती 'थैंक्यू मरजीना' की कविताओं में जीवन के जटिल जीवनानुभवों को सरल और सहज ढंग से उत्कृष्ट और श्रेष्ठ अभिव्यक्ति दी गई है। इन कविताओं में कलाबोध, भावधारा और बौद्धिक दृष्टि की अद्भुत संगति देखने को मिलती है, जो कि रतीनाथ योगेश्वर को बेहतर कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती है'। 'गर्म दोपहरी' कविता को पढ़ते हुए ग्रीष्म के दोपहर का सजीव और गतिशील बिंब उभरता है। इस कविता में कवि ने सिकहर के चित्रण के माध्यम से उस दुनिया का चित्रण किया है जो हमसे रिक्त होती जा रही है। खटिया, बाध, सिकहर, गेंदतड़ी जैसे शब्दों के प्रयोग से यह कविता ग्रामीण जीवन का सवाक् चित्र खींचती है। 'उम्मीद' कविता हमें ज़िंदगी के नैसर्गिक सत्य से साक्षात्कार करने की प्रेरणा देती है। शैशव का एक निश्छल संसार है जिसमें मानवीय ऊष्मा बची हुई है। कवि को बच्चों के माध्यम से उम्मीद कायम है—बच्चो हमें पकड़ो / हम सेमल के रुएं की तरह/ उड़े जा रहे हैं

इस संग्रह की एक कविता है—'एक लालटेन की तरह थी मां'। समकालीन कविता के प्रमुख कवि मंगलेश डबराल 'पहाड़ पर लालटेन' लिखते हैं तो रतीनाथ मां की उपमा लालटेन से करते हैं। युवा कवि ने इस कविता मे मां का सुंदर दृश्य-बिंब प्रस्तुत किया है। सांझ ढलते ही अपने सिर पर अचरा धरे हुए मां जब चिमनी की कालिख पोंछती है तो लोकजीवन का मार्मिक दृश्य उपस्थित हो जाता है। मानवीय संबंधों की ऊष्मा छीजने के इस दौर में ऐसी ममतालु मां आज दुर्लभ है। कविता की अंतिम पंक्तियां हमें संवेदित कर देती हैं—

'वह अपनी टुटही लालटेन कहां गई?'

'तिनके' कविता पढ़ते हुए हरिवंशराय बच्चन की कविता 'नीड़ का निर्माण' फिर बरबस याद आती है। कवि ने इंसान की संवेदनहीनता और पर्यावरण के प्रति उसकी उदासीनता पर मर्मांतक व्यंग्य किया है। बच्चन की कविता की पंक्तियां हैं—एक चिड़िया चोंच में तिनका लिए जा रही है वह सहज में ही पवन। 'तिनके' कविता के अंत में कवि का आशावादी स्वर मुखरित होता है—'घोंसले का नष्ट होना/तिनकों का खत्म होना नहीं है'। 'थैंक्यू मरजीना' कविता-संग्रह की एक कविता है 'मकान'। मकान केवल ईंट, सीमेंट और चूना द्वारा निर्मित इमारत नहीं है बल्कि उससे कुछ प्राणियों

की संवेदनाएं जुड़ी होती हैं। मकान के ढांचे को छोड़कर उससे जुड़ी हुई सभी वस्तुएं अपनी-अपनी उपादेयता खोती जा रही हैं। इस कविता की सबसे महत्वपूर्ण पंक्तियां हैं--फूट गया मिट्टी का घड़ा/ टूट गया बौछार खाया चूल्हा। रतीनाथ योगेश्वर यह मानते हैं कि ज़िंदगी का जो यह हरापन है वह अपने-आप नहीं है, उसे रचा जाता है। हरापन का दायरा व्यापक है। उसमें शामिल है—आकाश की नीलिमा, फूल, हवा, बारिश, सपने, स्मृतियां, कामनाएं इत्यादि।

युवा कवि इस कठिन समय में भी मनुष्य के दृढ़ विश्वास और इच्छा शक्ति पर पूरा भरोसा जताते हैं। तभी तो वह कहते हैं—'जब तक ज़िंदा है यकीन/लबरेज़ हैं हसरतें। ज़िंदगी को दो पालों में कैसे बांटा जा सकता है?' 'थैंक्यू मरजीना' की कविताएं जहां हमें आश्वस्त करती हैं, वहीं अपने भावबोध, ताज़े शिल्प के प्रयोग से हिंदी कविता के क्षेत्र में एक नई उम्मीद जगाने का दायित्व निभाती हैं ।

थैंक्यू मरजीना (कविता-संग्रह)
रतीनाथ योगेश्वर
प्रकाशक : साहित्य भंडार, इलाहाबाद,
पृ. 120, मूल्य : 200 रुपये (सजिल्द), 50 रुपये (पेपरबैक)

संपर्क : हिंदी विभाग, टी. डी. कॉलेज, जौनपुर (उ.प्र.)

संगीत समाज के साथ धड़कता है

अस्मिता

सीता बिम्ब्रा संगीत और साहित्य विदूषी हैं। उनकी नवीनतम कृति 'हिंदी के निर्गुण संतकाव्य में संगीत तत्व' एक शोध कृति है जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में—जयदेव, नामदेव, कबीर, नानक, दादू, अर्जुनदेव तथा सुंदरदास जैसे जिन सात कवियों की रचनाओं पर शोध हुआ है उनका कालखंड 15वीं से 16वीं शताब्दी था। इस पुस्तक में तबले की प्राचीनता सिद्ध करती गुरुनानक देव की एक रचना है—तबल बाज विचार शबद सुणाइयां।' एक निर्गुण रचना भी है इसमें—'बिनहीं तांता ताल बजावे/ बिन मंदल पटताला/ बिनहिं सबद अनाहद बाजे/ तहं निरतत है गोपाला।'

षड्ज से निषाद तक सात अध्यायों में विभक्त इस ग्रंथ में संगीत और साहित्य के साथ-साथ योग, भक्ति, धर्म और अध्यात्म से जुड़ी ढेरों जानकारियां हैं। इन सात कवियों के अलावा तानसेन और बैजू बावरा सहित कई अन्य महान लोगों की भी रचनाएं हैं। उल्लेखनीय है कि पुस्तक के पृष्ठों से गुज़रते हुए पाठक जैसे उस पूरे युग, पूरे परिदृश्य का दर्शन कर लेता है और एक रचना के माध्यम से कई अन्य रचनाओं से परिचित हो जाता है।

संगीत समाज के साथ धड़कता है, इसलिए विगत पांच-छह सौ वर्षों में न केवल बहुतेरे सामाजिक बल्कि सांगीतिक परिवर्तन भी हुए हैं। और, वह परिवर्तन इस पुस्तक में दिखता है। जैसे इस पुस्तक में राग तुखारी में नानक देव जी का एक पद ढाई ताल में है। उल्लेखनीय है कि आज राग तुखारी का प्रचलन बिल्कुल भी नहीं है जबकि ढाई ताल का स्वरूप पश्तो और रूपक सदृश है। एक स्थान पर चंचल ताल का उल्लेख है—जो शायद मुद्रण त्रुटि है—सही नाम संभवतः चांचर हो। इस शोध कृति में राग तुखारी, माज़, बैराड़ी, सोरठ, बसंत-हिंडोल, आसा, देवगंधारी, गउड़ी पूरबी, बड़हंस, बिहागड़ा, मारू बिहाग, कानड़ा, श्री, गउड़ी बाखन अखरी, भैरवी, आसावरी, गूजरी, नट और बिलावल आदि रागों में कई रचनाएं हैं। ये गीत प्रकार तीनताल, ढाईताल, झपताल, खटताल, चांचर, चारताल, सूलताल, आड़ाचौताल, कहरवा, फरोदस्त और यक्का आदि तालों में निबद्ध हैं। ढाईताल, खटताल और यक्का आदि ताल आज प्रचार में नहीं हैं, लेकिन इनका पूरा विवरण इस पुस्तक में है। शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत और लोक संगीत की ढेरों विधाएं ऐसी हैं, जिनसे आज हम अनजान हैं। उन विधाओं पर संक्षिप्त एवं शोधपरक सामग्री इस शोधकृति में है। विभिन्न प्रकार के आंचलिक गीत प्रकारों के विषय में भी बताया गया है—जैसे सोलह पदों वाले गीत प्रकार 'सोलहा' जो अष्टपदी की तरह की रचना है।

सातों महत्वपूर्ण संतों की जीवनी तो इसमें है ही, उनकी रचनाओं के माध्यम से उनके अतीत और पारिवारिक-सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी प्रकाश डाला गया है। पुस्तक की भाषा सरल और प्रवाहमय है। इस पुस्तक का फलक बहुत विस्तृत है। इसमें संगीत की ढेरों प्रचलित-अप्रचलित विधाओं और शैलियों के साथ-साथ तालों, वाद्यों, साहित्य, तंत्र आदि के विषय में भी बताया गया है लेकिन मूल भाव संत साहित्य में संगीत ही है।

हिंदी के निर्गुण संतकाव्य में संगीत तत्व
सीता बिम्ब्रा
प्रकाशक : राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-110002,
पृष्ठ: 445, मूल्य : 950 रुपये

संपर्क : मास्टर ब्लॉक-111, भू-तल, गली नं-3, शकरपुर, दिल्ली-110092

नई किताबें

1. चौराहे पर संसद
प्रताप अनम
प्रकाशक : शब्दालोक प्रकाशन, नागार्जुन नगर, सादतपुर विस्तार, दिल्ली-110094, पृ. 127, मूल्य: 130 रुपये (पेपरबैक)

2. इस रूट की सभी लाइनें व्यस्त हैं (कविता-संग्रह)
सुशांत सुप्रिय
प्रकाशक : अवंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-7, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन - 11, ग़ाज़ियाबाद-201005 (उ.प्र.)
पृ. 168, मूल्य: 335 रुपये (हार्डबाउंड)

3. कतरा-कतरा आसमां (कविता-संग्रह)
सुरेश बरनवाल
प्रकाशक : बोधि प्रकाशन, एफ 77, सेक्टर-9, रोड नं. 11, करतारपुरा, इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006, पृ. 104, मूल्य: 80 रुपये (पेपरबैक)

4. दलदल (कविता-संग्रह)
सुशांत सुप्रिय
प्रकाशक : अवंतिका प्रकाशन
सी-56/यूजीएफ-7, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-11, ग़ाज़ियाबाद-201005 (उ.प्र.)
पृ. 136, मूल्य: 275 रुपये (हार्डबाउंड)

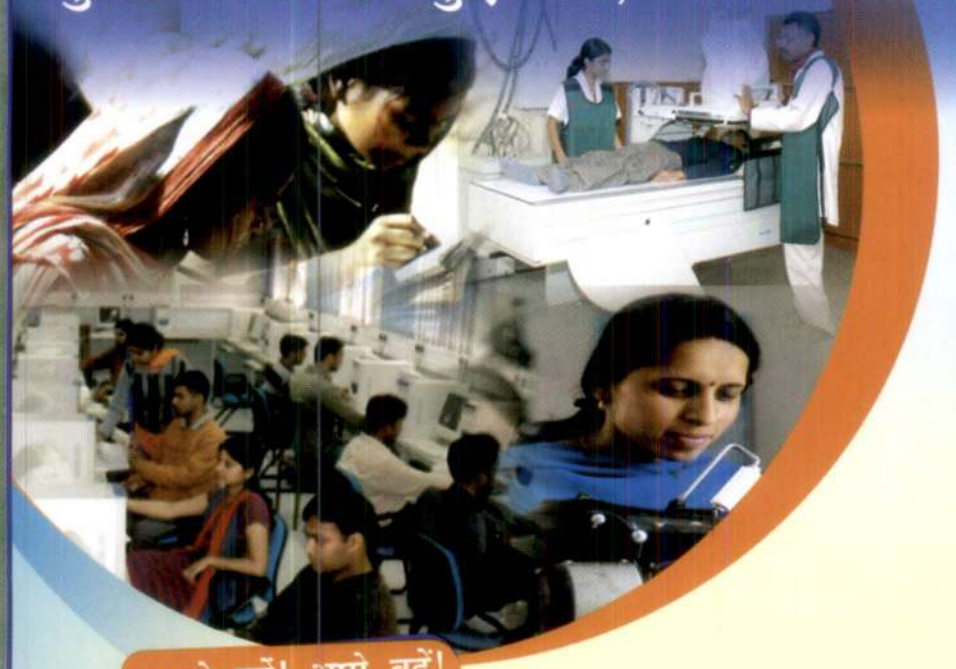
5. यही बहुत है (कविता-संग्रह)
देवेंद्र कुमार मिश्र
प्रकाशक : उद्योग नगर प्रकाशन, 695 न्यू कोट गांव, जी.टी. रोड, ग़ाज़ियाबाद-2860110 (उ. प्र.), पृ. 112, मूल्य: 200 रुपये (हार्डबाउंड)

6. सपनों के सहारे देश (व्यंग्य)
अतुल चतुर्वेदी
प्रकाशक : नीरज बुक सेंटर, सी-32, प्लॉट नं. 91, आई.पी. एक्स., दिल्ली-110092 पृ. 127, मूल्य: 250 रुपये (हार्डबाउंड)

7. देसी मैनेजमेंट
सुरेश कांत
प्रकाशक : हिंद पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, जे-40, जोरबाग लेन, नई दिल्ली-110003
पृष्ठ : 184, मूल्य : 150 रुपये (पेपरबैक)

8. त्रेता (महाकाव्य)
उद्भ्रांत
प्रकाशक : हिंद पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, जे-40, जोरबाग लेन, नई दिल्ली-110003
पृष्ठ : 448, मूल्य : 275 रुपये (पेपरबैक)

मुक्त विद्यालय-छुए मन, बदले जीवन



आओ पढ़ें! आगे बढ़ें!

अपनी शिक्षा आगे बढ़ायें...
मुक्त विद्यालय को अपनायें

पाठ्यक्रम	प्रवेश शुल्क (बिना विलम्ब)			प्रवेश के लिए तिथियां
	पुरुष	महिलाएं	छूट प्राप्त वर्ग	
• मुक्त बेसिक शिक्षा कक्षा–III, V एवं VIII	–	–	–	30 जून (प्रत्येक वर्ष)
• सेकेन्डरी (कक्षा - X)				ब्लाक-1 : 16 मार्च–31 जुलाई (बिना विलम्ब शुल्क)
(i) पाँच विषयों के लिए	₹ 1350	₹ 1100	₹ 900	1 अगस्त–15 सितम्बर (विलम्ब शुल्क के साथ)
(ii) प्रत्येक अतिरिक्त विषय के लिए	₹ 200	₹ 200	₹ 200	ब्लाक-2 : 16 सितम्बर–31 जनवरी (बिना विलम्ब शुल्क)
				1 फरवरी–15 मार्च (विलम्ब शुल्क के साथ)
• सीनियर सेकेन्डरी (कक्षा - XII)				ब्लाक-1 : 16 मार्च–31 जुलाई (बिना विलम्ब शुल्क)
(i) पाँच विषयों के लिए	₹ 1500	₹ 1250	₹ 975	1 अगस्त–15 सितम्बर (विलम्ब शुल्क के साथ)
(ii) प्रत्येक अतिरिक्त विषय के लिए	₹ 230	₹ 230	₹ 230	ब्लाक-2 : 16 सितम्बर–31 जनवरी (बिना विलम्ब शुल्क)
				1 फरवरी–15 मार्च (विलम्ब शुल्क के साथ)
• व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम (6 माह से 2 वर्ष)	पाठ्यक्रमों एवं अवधि के आधार पर			सत्र - 1 : 30 जून (प्रत्येक वर्ष) सत्र - 2 : 31 दिसम्बर (प्रत्येक वर्ष)

प्रवेश के लिए अपने निकटतम अध्ययन केंद्र अथवा संबंधित क्षेत्रीय कार्यालय से संपर्क करें।
विलम्ब शुल्क, अध्ययन केंद्रों, क्षेत्रीय कार्यालयों आदि की विस्तृत जानकारी के लिए वेबसाइट www.nios.ac.in देखें।

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

(मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार का एक स्वायत्त संस्थान)

ए–24/25, इंस्टीट्यूशनल एरिया, सेक्टर–62, नोएडा, गौतम बुद्ध नगर (उ.प्र.)

टॉल फ्री नं. 1800-180-9393; ईमेल : lsc@nios.ac.in वेबसाइट : www.nios.ac.in

विश्व की सबसे बड़ी मुक्त विद्यालयी शिक्षा प्रणाली

AH-113/2015

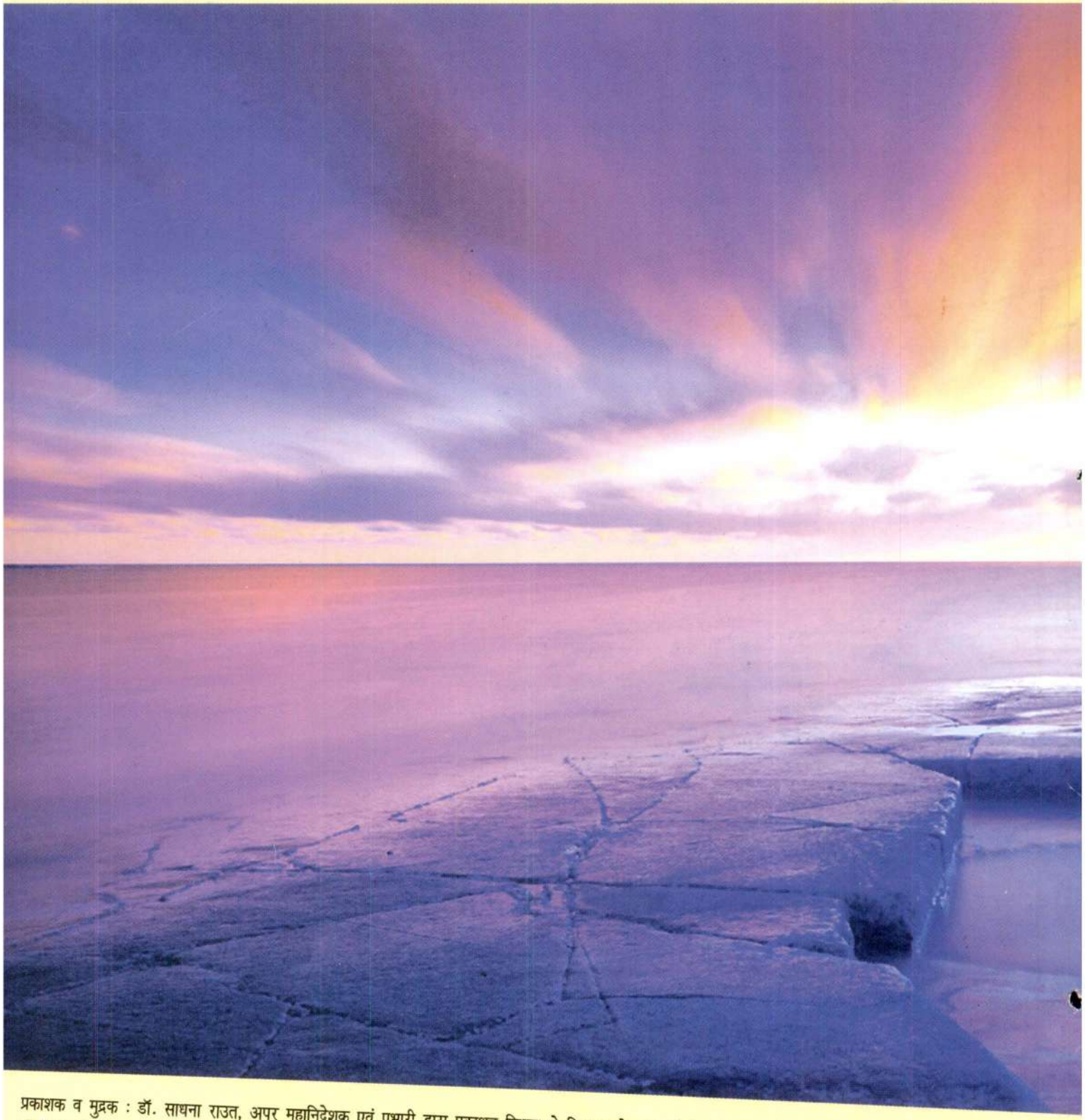
डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) – 05/3222/2015–17 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)–49/2015–17

Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2015-17
Licenced U (DN) - 49/2015-17 to post without pre-payment at RMS Delhi

दिल्ली डाक **Delhi Postal**
आर एन आई 701/57 **RNI 701/57**

● 10 सितंबर 2015 को प्रकाशित
● 21–22 सितंबर 2015 को डाक द्वारा जारी

वार्षिक मूल्य : ₹ 100



प्रकाशक व मुद्रक : डॉ. साधना राउत, अपर महानिदेशक एवं प्रभारी द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजूकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित ।

वरिष्ठ संपादक : राकेशरेणु, संपादक : फरहत परवीन